लाला लाजपतराय कृत

योगिराज श्रीकृष्ण

योगिराज श्रीकृष्ण

योगिराज श्रीकृष्ण

मूल लेखक

लाला लाजपतराय

अनुवाद

मास्टर हरिद्वारीसिंह बेदिल

सम्पादन

डॉ. भवानीलाल भारतीय

आर्य साहित्य भवन

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

SBN : 978-81-7077-080-0

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**

4408, नई सड़क दिल्ली–110006

दूरभाषः 23977216, 65360255

Website: www.vedicbooks.com

वैदिक–ज्ञान–प्रकाश का गरिमापूर्ण 87 वां वर्ष (1925–2012)

संस्करण : 2012

मूल्य : रूपये 100.00

मुद्रक : गोयल एंटरप्राइज़िस, दरियागंज, नई दिल्ली–110002

YOGIRAJ SRIKRISHNA by LALA LAJPATRAI Edited by Prof. Bhawanilal Bhartiya

क्रम

ग्रन्थकार लाला लाजपतराय

भारत की आजादी के आन्दोलन के प्रखर नेता लाला लाजपतराय का नाम ही देशवासियों में स्फूर्ति तथा प्रेरणा का संचार करता है। अपने देशा, धर्म तथा संस्कृति के लिए उनमें जो प्रबल प्रेम तथा आदर था उसी के कारण वे स्वयं को राष्ट्र के लिए समर्पित कर अपना जीवन दे सके। भारत को स्वाधीनता दिलाने में उनका त्याग, बलिदान तथा देशभक्ति अद्वितीय और अनुपम थी। उनके बहुविध क्रियाकलाप में साहित्य–लेखन एक महत्वपूर्ण आयाम है। वे उर्दू तथा अंग्रेजी के समर्थ रचनाकार थे।

लाला जी का जन्म 28 जनवरी, 1865 को अपने ननिहाल के गांव ढुढ़िके (जिला फरीदकोट, पंजाब) में हुआ था। उनके पिता राधाकृष्ण लुधियाना जिले के जगरांव कस्बे के निवासी अग्रवाल वैश्य थे। लाला राधाकृष्ण अध्यापक थे। वे उर्दू–फारसी के अच्छे जानकार थे तथा इस्लाम के मन्तव्यों में उनकी गहरी आस्था थी। वे मुसलमानी धार्मिक अनुष्ठानों का भी नियमित रूप से पालन करते थे। नमाज़ पढ़ना और रमजान के महीनें में रोजा रखना उनकी जीवनचर्या का अभिन्न अंग था तथापि वे सच्चे धर्म–जिज्ञासु थे। अपने पुत्र लाला लाजपतराय के आर्यसमाजी बन जाने पर उन्होंने वेद के दार्शनिक सिद्वान्त त्रैतवाद(ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का अनादित्य) को समझने में भी रूचि दिखाई। लालाजी की इस जिज्ञासु प्रवत्ति का प्रभाव उनके पुत्र पर भी पड़ा था।

लाजपतराय की शिक्षा पांचवें वर्ष में आरम्भ हुई। 1880 में उन्होंने

कलकत्ता तथा पंजाब से एंट्रेंस की परीक्षा एक ही वर्ष में पास की और

आगे पढ़ने के लिए लाहौर आये। यहां वे गवर्नमेंट कॉलेज में प्रविष्ट हुए और 1882 में एफ.ए. की परीक्षा तथा मुख्तारी की परीक्षा साथ–साथ पास की। यहीं वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और उसके सदस्य बन गये। डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर के प्रथम प्राचार्य लाला वैदिक विद्वान पं. गुरूदत्त उनके सहपाठी थे, जिनके साथ आगे चलकर आर्यसमाज का कार्य करना पड़ा। इनके साथ उन्हें महर्षि दयानंद के विचारों का परिचय मिला।

1882 के अन्तिम दिनों में वे पहली बार आर्य समाज लाहौर के वार्षिक उत्सव में सम्मिलित हुए। इस मार्मिक प्रसंग का वर्णन स्वयं लालाजी ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है ''उस दिन स्वर्गीय लाला मदनसिंह बी.ए. (डी.ए.वी कॉलेज के संस्थापकों में प्रमुख) का व्याख्यान था। उनको मुझसे बहुत प्रेम था। उन्होंने व्याख्यान देने से पहले समाज मंदिर की छत पर मुझे अपना लिखा व्याख्यान सुनाया और मेरी सम्मति पूछी। मैंने उस व्याख्यान को बहुत पसंद किया। जब मैं छत से नीचे उतरा तो लाला सांईदास जी (आर्य समाज लाहौर के प्रथम मंत्री) ने मुझे पकड़ लिया और अलग ले जाकर कहने लगे कि हमने बहुत समय तक इंतज़ार किया है कि तुम हमारे साथ मिल जाओ। मैं उस घड़ी को भूल नहीं सकता । वह मेरे से बातें करते थे, मेरे मुंह की ओर देखते थे तथा मेरी पीठ पर प्यार से हाथ फेरते थे। मैंने उनको जवाब दिया कि मैं तो उनके साथ हूं। मेरा इतना कहना था कि उन्होंने फौरन समाज के सभासद बनने के प्रार्थना–पत्र मंगवाया और मेरे सामने रख दिया। मैं दो–चार मिनट तक सोचता रहा, परंतु उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारे हस्ताक्षर लिए बिना तुम्हें जाने न दूंगा। मैंने फौरन हस्ताक्षर कर दिये। उस समय उनके चेहरे पर प्रसन्नता की जो झलक थी उसका वर्णन मैं नही कर सकता। ऐसा मालूम होता था कि उनको हिन्दुस्तान

की बादशाहत मिल गई है। उन्होंने एकदम पं. गुरूदत्त को बुलाया और सारा हाल सुनाकर मुझे उनके हवाले कर दिया। वह भी बहुत खुश हुए। लाला मदनसिंह के ख्याख्यान की समाप्ति पर लाला सांईदास ने मुझे और पं. गुरूदत्त को मंच पर खड़ा कर किया। हम दोनों से व्याख्यान दिलवाये। लोग बहुत खुश हुए और खूब तालियां बजाई। इन तालियों ने मेरे दिल पर जादू का–सा असर किया। मैं प्रसन्नता और सफलता की मस्ती में झूमता हुआ अपने घर को लौटा।"

यह है लालाजी के आर्यसमाज में प्रवेश की कथा। लाला सांईदास आर्यसमाज के प्रति इतने अधिक समर्पित थे िकवे होनहार नवयुवकों को इस संस्था में प्रविष्ट करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। स्वामी श्रद्वानंद(तत्कालीन लाला मुंशीराम) को आर्यसमाज में लाने का श्रेय भी उन्हें ही है। 30 अक्टूबर, 1883 को जब अजमेर में लाने का श्रेय भी उन्हें ही है। 30 अक्टूबर, 1883 को लाहौर में ऋषि दयानंद का देहान्त हो गया तो 9 नवम्बर, 1883 को लाहौर आर्यसमाज की ओर से एक शोकसभा का आयोजन किया गया। इस सभा के अंत में यह निश्चित हुआ कि स्वामी की स्मृति में एक ऐसे महाविद्यालय की स्थापना की जाये, जिसमें वैदिक साहित्य, संस्कृत तथा हिंदी की उच्च शिक्षा के साथ–साथ अंग्रेजी और पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान में भी छात्र दक्षता प्राप्त कराई जाये। 1886 में जब इस शिक्षण संस्था की स्थापना हुई तो आर्यसमाज के अन्य नेताओं के साथ लाला लाजपत राय का भी इसके संचालन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा तथा वे कालान्तर में डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर के महान् स्तम्भ बने।

वकालत के क्षेत्र में

लाला लाजपतराय ने एक मुख्तार (छोटा वकील) के रूप में अपने मूल निवासस्थान जगरांव में ही वकालत आरम्भ कर दी थी; (किन्तू यह कस्बा बहुत छोटा था, जहां उनके कार्य के बढ़ने की अधिक सम्भावना नहीं थी, अतः वे रोहतक चले गये। उन दिनों पंजाब प्रदेश में वर्तमान

हरियाणा, हिमाचल तथा आज के पाकिस्तान पंजाब की भी समावेश था।

रोहतक में रहते हुए ही उन्होंने 1885 में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1886 में वे हिसार आ गये। एक सफल वकील के रूप में 1892 तक वे यहीं रहे और इसी वर्ष लाहौर आये । तब से लाहौर ही उनकी सार्वजनिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया।

लालाजी ने यों तो समाजसेवा का कार्य हिसार में रहते हुए ही आरम्भ कर दिया था, जहां उन्होंने लाला चंदूलाल, पं.लखपतराय और लाला चुड़ामणि जैसे आर्यसमाजी कार्यकत्ताओं के साथ सामाजिक हित की योजनाओं के कार्यान्वयन में योगदान किया, किन्तू लाहौर आने पर वे प्रथम बार कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में सम्मिलित हुए जिसकी अध्यक्षता मि. जार्ज यूल ने की थी। 1906 में वे पं. गोपालकृष्ण गोखले के साथ कांग्रेस के एक शिष्टमंडल के सदस्य के रूप में इंग्लैंड गये। यहां से वे अमेरिका चले गये। उन्होंने कई बार विदेश यात्राएं की और वहां रहकर पश्चिमी देशों के समक्ष भारत की राजनैतिक परिस्थिति की वास्तविकता से वहां के लोगों को परिचित कराया तथा उन्हें स्वाधीनता आंदोलन की जानकारी दी। लाला लाजपत राय ने अपने सहयोगियों–लोकमान्य तिलक तथा विपिनचंद्र पाल के साथ मिलकर कांग्रेस में उग्र विचारों का प्रवेश कराया। 1885 में अपनी स्थापना से लेकर लगभग बीस वर्षो तक कांग्रेस ने एक देशभक्त संस्था का चरित्र बनाये रखा था। इसके नेतागण वर्ष में एक बार बड़े दिन की छुट्टियों में देश के किसी नगर में एकत्रित होते और विनम्रतापूर्वक शासन के सूत्रधारों (अंग्रेजों) से सरकारी उच्च सेवाओं में भारतीयों को अधिकाधिक संख्या में प्रविष्ट करने की याचना करते । 1905 में जब बनारस में सम्पन्न हुए कांग्रेस के अधिवेशन में ब्रिटिश युवराज के भारत–आगमन पर उनका स्वागत करने का प्रस्ताव आया तो लालाजी ने उसका डटकर विरोध किया। कांग्रेस के मंच से यह अपनी किस्म का पहला तेजस्वी भाषण हुआ जिसमें देश की

अस्मिता प्रकट हुई थी। 1907 में जब पंजाब के किसानों में अपने अधिकारों को लेकर चेतना हुई तो सरकार का क्रोध लालाजी तथा सरदार अजीतसिंह (शहीद भगत सिंह के चाचा) पर उमड़ पड़ा और इन दोनों देशभक्त नेताओं को देश से निर्वासित कर उन्हें पड़ोसी देश बर्मा के मांडले नगर में नज़रबंद कर दिया, किन्तू देशवासियों द्वारा सरकार के इस दमनपूर्ण कार्य का प्रबल विरोध किये जाने पर सरकार को अपना आदेश वापस लेना पड़ा। लालाजी पुःन स्वदेश आये और देशवासियों ने उनका भावभीना स्वागत किया। लालाजी के राजनैतिक जीवन की कहानी अत्यंत रोमांचक तो है ही, भारतवासियों को स्वदेश–हित के लिए बलिदान तथा महान् त्याग करने की प्रेरणा भी देती है।

जन–सेवा के कार्य

लालाजी केवल राजनैतिक नेता और कार्यकर्ता ही नहीं थे, उन्होंने जन–सेवा का भी सच्चा पाठ पढ़ा था। जब 1896 तथा 1899 (इसे राजस्थान में छप्पन का अकाल कहते हैं, क्योंकि यह विक्रम का 1956 का वर्ष था) में उत्तर भारत में भयंकर दुष्काल पड़ा तो लालाजी ने अपने साथी लाला हंसराज के सहयोग से अकालपीड़ित लोगों को सहायता पहुंचाई। जिन अनाथ बच्चों को ईसाई पादरी अपनाने के लिए तैयार थे और अन्ततः जो उनका धर्म–परिवर्तन करने के इरादे रखते थे, उन्हें इन मिशनरियों के चंगुल से बचाकर फीरोजपुर तथा आगरा के आर्य अनाथालयों में भेजा। 1905 में कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) में भयंकर भूकम्प आया। उस समय भी लालाजी सेवा–कार्य में जुट गये और डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर के छात्रों के साथ भूकम्प–पीड़ितों को राहत प्रदान की। 1907–1908 में उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में भी भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और लालाजी को पीड़ितों की सहायता के लिए आगे आना पड़ा।

पुनः राजनैतिक आन्दोलन में

1907 के सूरत के प्रसिद्व कांग्रेस अधिवेशन में लाला लाजपतराय ने अपने सहयोगियों के द्वारा राजनीति में गरम दल की विचारधारा का सूत्रपात कर दिया था और जनता को यह विश्वास दिलाने में सफल हो गये थे कि केवल प्रस्ताव करने और गिड़गिड़ाने से स्वतंत्रता मिलने वाली नहीं है। हम यह देख चुके हैं कि जनभावना को देखते हुए अंग्रेजों को उनके देश निर्वाचन को रद्द करना पड़ा था। वे स्वदेश आये और पुनः स्वाधीनता के संग्राम में जुट गये। प्रथम विश्वयुद्व (1914–18) के दौरान वे एक प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में पुनः इंग्लैंड गये और देश की आज़ादी के लिए प्रबल जनमत जागृत किया। वहां से वे जापान होते हुए अमेरिका चले गये और स्वाधीनता–प्रेमी अमेरिकावासियों के समक्ष भारत की स्वाधीनता का पक्ष प्रबलता से प्रस्तुत किया। यहां उन्होंने इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना की तथा कुछ ग्रन्थ भी लिखें। 20 फरवरी, 1920 को जब वे स्वदेश लौटे तो अमृतसर में जलियांवालाबाग कांड हो चुका था और सारा राष्ट्र असंतोष तथा क्षोभ की ज्वाला में जल रहा था। इसी बीच महात्मा गांधी ने असहयोग आरम्भ किया तो लालाजी पूर्ण तत्परता के साथ इस संघर्ष में जुट गये। 1920 में ही वे कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष बने। उन दिनों सरकारी शिक्षण संस्थाओं के बहिष्कार, विदेशी वस्त्रों के त्याग, अदालतों का कार्यक्रमों को कांग्रेस ने अपने हाथ में ले रखा था, जिसके कारण जनता में एक नई चेतना का प्रादुर्भाव हो चला था। इसी कारण लालाजी को कारावास का दंड मिला, किंतू खराब स्वास्थ्य के कारण वे जल्दी ही रिहा कर दिये गये।

1924 में लालाजी कांग्रेस के अंन्तर्गत ही बनी स्वराज्य पार्टी में शामिल हो गये और केन्द्रिय धारा सभा (सेंट्रल असेम्बली) के सदस्य चुन लिए गये। जब उनका पं. नेहरू से कतिपय राजनैतिक प्रश्नों पर

मतभेद हो गया तो उन्होंने नेशनलिस्ट पार्टी का गठन हो गया और पुनः असेम्बली में पहुंच गये। अन्य विचारशील नेताओं की भांति लालाजी भी कांग्रेस में दिन–प्रतिदिन बढने वाली मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति से अप्रसन्नता अनुभव करते थे।, इसलिए स्वामी श्रद्वानंद तथा पं. मदनमोहन मालवीय के सहयोग से उन्होंने महासभा के कार्य को आगे बढ़ाया। 1925 में उन्हें हिन्दू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन का अध्यक्ष भी बनाया गया। ध्यातव्य है कि उन दिनों हिन्दू महासभा का कोई स्पष्ट राजनैतिक कार्यक्रम नहीं था और वह मुख्य रूप से हिन्दू संगठन,अछूतोद्वार, शुद्धि जैसे सामाजिक कार्यक्रमों में ही दिलचस्पी लेती थी। इसी कारण कांग्रेस से उनका थोड़ा भी विरोध नहीं था। यद्यपि संकीर्ण दृष्टि के अनेक राजनैतिक कर्मी लालाजी के हिन्दू महासभा में रूचि लेने से नाराज़ भी हुए किंतू उन्होंने इसकी कभी परवाह नहीं की और वे अपने कर्त्तव्यपालन में ही लगे रहे।

जीवन–संध्या

1928 में जब अंग्रेजो द्वारा नियुक्त साइमन कमीशन भारत आया तो देश के नेताओं ने उसका बहिष्कार करने का निर्णय लिया। 30 अक्टूबर, 1928 को कमीशन लाहौर पहुंचा तो जनता के प्रबल प्रतिरोध को देखते हुए सरकार ने धारा 144 लगा दी। लालाजी के नेतृत्व में नगर के हजारों लोग कमीशन के सदस्यों को काले झंडे दिखाने के लिए रेलवे स्टेशन पहुंचे और 'साइमन वापस जाओ' के नारों से आकाश गुंजा दिया। इस पर पुलिस को लाठीचार्ज का आदेश मिला। उसी समय सार्जेंट सांडर्स ने लालाजी की छाती पर लाठी का प्रहार किया जिससे उन्हें सख्त चोट पहुंची। उसी सांय लाहौर की एक मिसाल जनसभा में एकत्रित जनता को सम्बोधित करते हुए नरकेसरी लालाजी ने गर्जना करते हूए कहा– **मेरे शरीर पर पड़ी लाठी की प्रत्येक चोट अंग्रेजी साम्राज्य के कफन की कील का काम करेगी।** इस दारूण प्रहार से आहत लालाजी ने अठारह

दिन तक विषम ज्वर की पीड़ा भोगकर 17 नवम्बर, 1928 को परलोक के लिए प्रस्थान किया।

बहुआयामी व्यक्तित्व

लाला लाजपतराय का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे एकसाथ ही उत्कृष्ट वक्ता, श्रेष्ट लेखक, सार्वजनिक कार्यकर्ता, सेवाभावी समाजसेवी, राजनैतिक नेता, शिक्षाशास्त्री, चिन्त, विचारक तथा दार्शनिक थे। आर्यसमाज से ही उन्होंने देश–सेवा का पाठ पढ़ा था और स्वामी दयानंद से उन्होंने समर्पण तथा सेवा का आदर्श ग्रहण किया था। उनके शब्दों में – **आर्यसमाज मेरी माता तथा स्वामी दयानंद मेरे धर्मपिता हैं। मैंने देश–सेवा का पाठ आर्यसमाज से ही पढ़ा है।** लालजी के बलिदान के पश्चात् देशबंधु चितरंजनदास की पत्नी श्रीमती बसंतीदेवी ने एक वक्तव्य प्रसारित कर कहा था कि क्या देश में कोई ऐसा क्रांतिकारी युवक नहीं है जो भारतकेसरी लालाजी की मौत का बदला ले सकें? जब यह बात सरदार भगतसिंह तक पहुंची तो उसने लालाजी पर लाठियों से प्रहार करने वाले सांडर्स को मारकर उस अमर देशभक्त की मौत का बदला ले लिया। लाला लाजपतराय देश के स्वाधीनता संग्राम के महा्न सेनानी थे। देशवासी उनके त्याग और बलिदान को सदा स्मरण रखेंगे।

लाला लाजपतराय – लेखक और साहित्यकार के रूप मे

लालाजी का अध्ययन विशाल था। धार्मिक , सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर उनका चिंतन स्पष्ट था। उनका लेखन विशद, विविध विषयों से सम्पृक्त तथा बहुआयामी था, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैः

जीवनी–लेखनः

स्वदेशी और अन्य देशीय महापुरूषों के जीवन–चरित्त–लेखन का उनका कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। इटली के विख्यात देशभक्त मैजिनी और गैरीबाल्डी का जीवनी–लेखन तो विदेशी शासकों की दृष्टि में

इतना आपत्तिजनक समझा गया कि इन दोनों पुस्तकों की जब्ती के आदेश प्रसारित किये गये। उनके द्वारा निम्न जीवन–चरित्र लिखें गये –

1. **लाइफ एंड वर्क ऑफ पं. गुरूदत्त विद्यार्थी एम.ए. :** इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1891 में पं. गुरूदत्त के निधन के एक वर्ष पश्चात् हुआ। यह लालाजी की प्रथम कृति है जिसे उन्होंने अपने मित्र तथा सहपाठी पं. गुरूदत्त के संस्मरणों के आधार पर लिखा था। विरजानंद प्रेस, लाहौर से प्रकाशित यह ग्रंन्थ अब प्रायः दुर्लभ हो चुका है। इसका उर्दू संस्करण 1992 में छपा था।
2. **महर्षि दयानंद सरस्वती और उनका कामः** स्वामी दयानंद का यह उर्दू जीवन–चरित्र लालाजी ने 1898 में लिखा। इसका हिन्दी अनुवाद गोपालदास देवगण शर्मा ने किया जो 1898 में ही 'दुनिया के महापुरूषों की जीवन–ग्रंथमाला' के अंतर्गत छापा। 2024 वि. में सार्चदेशिक पत्र ने इसे अपने विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया।
3. **योगिराज महात्मा श्रीकृष्ण का जीवन–**चरित्रः उर्दू में इसका प्रकाशन 1900 में लाहौर से हुआ। इसका हिन्दी अनुवाद मास्टर हरिद्वारीसिंह बेदिल (गुरूकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर में अध्यापक) ने किया, जिसे पं. शंकरदत्त शर्मा ने वैदिक पुस्तकालय , मुरादाबाद से प्रकाशित किया।
4. **शिवाजी महाराज का जीवन–चरितः** यह भी मूलतः उर्दू में लिखा गया और 1896 में प्रकाशित हुआ। ब्रिटिश शासन ने इसे जब्त कर लिया। इसका हिन्दी अनुवाद श्री केशवप्रसाद सिंह ने किया जिसके कई संस्करण छपे। नेशनल बुक ट्रस्ट ने इसे 1967 में पुनः प्रकाशित किया।
5. **महात्मा ग्वीसेप मैजिनी का जीवनऋचरितः** यह भी मूलतः उर्दू में लिखा गया और 1896 में प्रकाशित हुआ। ब्रिटिश शासन ने इसे जब्त कर लिया। इसका हिन्दी अनुवाद श्री केशवप्रसाद सिंह ने किया जिसके कई संस्करण छपे। नेशनल बुक ट्रस्ट ने इसे 1967 में पुनः प्रकाशित किया।
6. **गैरीबाल्डीः** उर्दू में यह जीवन–चरित्र लिखा गया था। इसे भी अंग्रेजी ने प्रतिबंधित कर दिया था। देश के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् 'नेशनल बुक ट्रस्ट' ने इसे 1967 में पुनः प्रकाशित किया।

7. **सम्राट् अशोकः** मूल ग्रंथ उर्दू में था। इसका हिन्दी अनुवाद चौधरी एंड संस,बनारस ने 1933 में प्रकाशित किया।

अन्य ग्रन्थ

1. **दि आर्यसमाज :** आर्यसमाज के सिद्वातों, कार्यो तथा उसके संस्थापक स्वामी दयानंद के जीवन एंव कृतित्व का विश्लेषण करने वाला यह अंग्रेजी ग्रन्थ 1914 में लिखा गया था। उस समय लालाजी लंदन में थे। सुप्रसिद्व लांगमैंस ग्रीन एंड कम्पनी ने इसे 1915 में प्रथम बार लंदन से ही प्रकाशित किया। इसका एक भारतीय संस्करण प्रिंसिपल श्रीराम ने सम्पादित किया, इसका एक भारतीय संस्करण प्रिंसिपल श्रीराम ने सम्पादित किया, जिसमें उपयुक्त परिवर्धन भी किया गया था। ओरियेण्ट लांगमैंस, नई दिल्ली ने इसे 1967 में प्रकाशित किया । इन पंक्तियों के लेखक ने इसका हिन्दी अनुवाद किया जिसके दो संस्करण क्रमशः 1982 तथा 1994 में अजमेर तथा दिल्ली से प्रकाशित हुए। दिल्ली के ही विभिन्न प्रकाशकों ने हाल ही में इसके मूल अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किये हैं। तरक्किए उर्दू बोर्ड, दिल्ली ने इसका उर्दू अनुवाद किशोर सुलतान से करवाकर प्रकाशित किया है।
2. **दि मैसेज ऑफ भगवद्गीताः** इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से 1908 में प्रकाशित।
3. **अनहैप्पी इण्डिया :** मिस कैथराइन मेंयो नामक एक चालाक अमरीकी महिला पत्रकार ने भारत को बदनाम करने तथा उसे स्वराज्य के लिए अयोग्य सिद्व करने की दृष्टि से ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों की प्रेरणा पाकर 'मदर इण्डिया' नामक एक पुस्तक लिखी जो भारतीय चरित्र को अत्यंत विकृत, दूषित तथा घृणोत्पादक शैली में प्रस्तुत करती थी। महात्मा गांधी ने पढ़कर 'इसे गंदी नाली के निरीक्षक की रिपोर्ट' कहा था। लालाजी ने इस पूर्वाग्रहयुक्त पुस्तक का सटीक और मुंहतोड़ उत्तर 1928 में 'अनहैप्पी इण्डिया' लिखकर दिया। 'दुखी भारत' शीर्षक से इसका हिन्दी अनुवाद इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ने ही प्रकाशित किया था।

लालाजी ने आर्थिक, राजनैतिक तथा शिक्षा आदि विषयों पर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे थे। इनका यथोपलब्ध विवरण इस प्रकार है :

1- England's Debt to India: B.W. Huebsch, New York से 1917 में प्रकाशित।

2- The Evolution of Japan: आर.चटर्जी,कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता से प्रकाशित।

3- Ideals of Non-cooperation and Other Essayd: जी.ए. नटेसन, मद्रास से 1924 में प्रकाशित।

4- India's Will to Freedom: Writings and Speeches on the Present Situation: गणेशन एंड कम्पनी, मद्रास से 1920 में प्रकाशित।

5- The Problem of National Education in India: 1920 में प्रकाशित। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा 1966 में पुनः प्रकाशित।

6- The Political future of India: B.W. Huebsch, New York से प्रकाशित।

7- Story of My Deportation: पंजाबी प्रेस, लाहौर से 1908 में प्रकाशित।

8- Young India –An interpretation and History of the National Movement.: B.W. Huebsch, New York से 1916 में प्रकाशित। भारत लोक–सेवक मण्डल (servants of the People's Society) लाहौर द्वारा 1927 में लाहौर से प्रकाशित भारतीय संस्करण।

9- Report of People's Famine Relief Movement-1908: लाहौर से 1909 में प्रकाशित

10- The Story of My Life: The People, लाहौर का लाजपतराय विशेषांक (अप्रैल 13, 18 सन् 1929)

यह लालाजी की आत्म कथा है जिसका हिन्दी अनुवाद पं. भीमसेन विद्यालंकार ने किया, जो 1932 में नवयुग ग्रन्थमाला, लाहौर से प्रकाशित हुआ।

ललाजी की जन्म–शताब्दी (1965) के अवसर पर विजयचन्द्र जोशी ने 'लाला लाजपतराय–आटोबायोग्राफिकल राइटिंग्स' शीर्षक से उनकी आत्मकथा का सम्पादन किया तथा दो खण्डों में लालाजी के लेखों तथा भाषणों का संग्रह भी प्रकाशित किया।

ललाजी सफल पत्रकार भी थे। उन्होंने उर्दू में 'पंजाबी' तथा 'वंदमातरम्' नामक एक अंग्रेजी मासिक भी प्रकाशित किया था।

देश की आर्थिक और वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना 1894 में की। बाबू पुरूषोत्तमदास टण्डन इसके मुख्य सचिव रहे थे। लालाजी द्वारा स्थापित भारत लोक–सेवक मण्डल (Servants of the People's Society) ने देश के नवजागरण तथा सेवा का अभूतपूर्व कार्य किया है। प्रसिद्व राष्ट्रीय नेता बाबू पुरूषोत्तमदास टण्डन, भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री तथा प. अलगूराय शास्त्री जैसे देशभक्तों ने लालाजी से प्रेरणा लेकर ही राष्ट्र–सेवा का पाठ पढ़ा था।

सम्पादकीय

पांच हजार वर्ष पूर्व आज की ही तरह विश्व के क्षितिज पर भादों की अंधेरी तमिस्त्रा अपनी निगूढ़ कालिमा के साथ छा गई थी। तब भी भारत में जन था, धन था, शक्ति थी, साहस था, पर एक अकर्मण्यता भी थी जिससे सब कुछ अभिभूत, मोहाच्छन्न तथा तमतावृत हो रहा था। महापुरूष तो इस वसुंधरा पर अनेक हुए हैं किन्तू लोक, नीति और अध्यात्म को समन्वय के सूत्र में गूंथ कर राजनीति, समाज नीति तथा दर्शन के क्षेत्र में क्रांति का शंखनाद करने वाले योगेश्वर कृष्ण ही थे।

परवर्ती काल में कृष्ण के उदात्त तथा महनीय आर्योचित चरित्र को समझने में चाहे लोगों ने अनेक भूलें ही क्यों न की हों, उनके समकालीन तथा आत्मीय जनों ने उस महाप्राण व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन किया था। सम्राट् युधिष्ठिर उनका सम्मान करते थे तथा उनके परामर्श को सर्वोपरि महत्व देते थे। पितामह, भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य जैसे प्रतिपक्ष के लोग भी उन्हें भरपूर आदर देते थे। महाभारत के प्रणेता भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने तो उन्हें धर्म का पर्याय बताते हुए घोषणा की थी

यतो कृष्णस्ततो धर्मः और जहां धर्म है वहां जय तो निश्चित ही है। भगवद्गीता के वक्ता महामति संजय ने जो भविष्यवाणी की थी, उसे समसामयिक लोगों की सहमति प्राप्त थी, क्योंकि उसने सत्य ही कहा था –

यत्र योगेश्वरो कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिधुर्वा नीतिर्मतिर्मम ।। 18/78

आर्य जीवनकला का सर्वांगीण विकास हमें कृष्ण के पावन चरित्र में दिखाई देता है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। सर्वत्र उनकी अद्भूत मेधा तथा सर्वग्रासिनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। वे एक ओर महान् राजनीतिज्ञ, क्रांतिविधाता, धर्म पर आधारित नवीन साम्राज्य के स्त्रष्टा राष्ट्रपुरूष के रूप में दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर धर्म, अध्यात्म, दर्शन और नीति के सूक्ष्म चिन्तक, विवेचक तथा प्रचारक भी हैं। उनके समय में भारत देश सुदूर गांधार से लेकर दक्षिण की सह्याद्रि पर्वतमाला तक क्षत्रियों के छोटे छोटे, स्वतंत्र किन्तू निरकुंश राज्यों में विभक्त हो चुका था। उन्हें एकता के सूत्र में पिरोकर समग्र भरतखण्ड को एक सुदृढ़ राजनैतिक इकाई के रूप में पिरोने वाला कोई नहीं था। एक चक्रवर्ती सम्राट् के न होने से विभिन्न माण्डलिक राजा नितान्त स्वेच्छाचारी तथा प्रजापीड़क हो गये थे। मथुरा का कंस, मगध का जरासंध, चेदिदेश का शिशुपाल तथा हस्तिनापुर के दुर्योधन प्रमुख कौरव सभी दुष्ट, विलासी, ऐश्वर्य–मदिरा में प्रमत्त तथा दुराचारी थे। कृष्ण ने अपनी नीतिमत्ता, कूटनीतिक चातुर्य तथा अपूर्व सूझबूझ से इन सभी अनाचारियों का मूलोच्छेद किया तथा धर्मराज कहलाने वाले अजातशत्रु युधिष्ठिर को आर्यावर्त के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर आर्यों के अखण्ड, चक्रवर्ती, सार्वभौम साम्राज्य को साकार किया।

जिस प्रकार वे नवीन साम्राज्य–निर्माता तथा स्वराज्त्राष्टा युगपुरूष के रूप में प्रतिष्ठित हुए, उसी प्रकार अध्यात्म तथा तत्त्व–चिन्तन के क्षेत्र में भी उनकी प्रवृतियां चरमोत्कर्ष पर पहुंच चकी थी। सुख–दुःख को समान समझने वाले, लाभ और हानि, जय और पराजय जैसे द्वन्दों को एक–सा मानने वाले, अनुद्विग्न, वीतराग तथा जल में रहने वाले कमल पत्र के समान सर्वथा निर्लेप, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को यदि हम साकार रूप में देखना चाहें तो वह कृष्ण से भिन्न अन्य कौन–सा होगा? प्रवत्ति और निवृत्ति, श्रेय और प्रेय, ज्ञान और कर्म, ऐहिक और आमष्मिक (परलोक विषयक) जैसी आपाततः विरोधी दिखाने वाली प्रवृतियों में अपूर्व सांमजस्य स्थापित कर उन्हें स्वजीवन में चरितार्थ करना कृष्ण जैसे महामानव के लिए ही सम्भव था। उन्होंने धर्म के दोनों लक्ष्यों–अभ्युदय और निःश्रेयस

की उपलब्धि की। अतः यह निरपवाद रूप से कहा जा सकता है कि कृष्ण का जीवन आर्य आदर्शो की चरम परिणति है।

समकालीन सामाजिक दुरवस्था, विषमता तथा नष्टप्राय मूल्यों के प्रति भी वे पूर्ण जागरूक थे। उन्होंने पतनोन्मुख समाज को ऊर्ध्वगामी बनाया। स्त्रियों, शूद्रों बनवासी जनों तथा पीड़ित एवं शोषित वर्ग के प्रति उनके ह्रद्य में अशेष संवेदना तथा सहानुभूति थी। गांधारी, कुन्ती, द्रोपदी, सुभद्रा आदि आर्य–कुल ललनाओं को समुचित सम्मान देकर उन्होंने नारी वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ाई। निश्चय ही महाभारत युग में सामाजिक पतन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। गुण, कर्म तथा स्वभाव पर आश्रित मानी जाने वाली आर्यो की वर्णाश्रम व्यवस्था जन्मना जाति पर आधारित हो चुकी थी। ब्राह्मण वर्ग अपनी स्वभावगत शुचिता, लोकोपकार भावना, त्याग,सहिष्णुता, सम्मान के प्रति निर्लेपता जैसे सद्‌गुणों को भूलाकर अनेक प्रकार के दूषित भावों को ग्रहण कर चुका था। आचार्य द्रोण जैसे शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्पात ब्राह्मण स्वाभिमान को तिलांजलि दे बैठे थे तथा सब प्रकार के अपमान को सहन करके भी कुरूवंशी राजकुमारों को शिक्षा देकर उदरपूर्ति कर रहे थे। कहां तो गुरूकुलों का वह युग, जिसमें महामहिम सम्राटों के राजकुमार भी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आचार्य कुल में जाकर दीर्घकाल तक निवास करते थे और कहां महाभारत का वह युग जिसमें कुरूवृद्व भीष्म के आग्रह (उसे आदेश ही कहना चाहिए) से द्रोणाचार्य से राजमहल को ही गुरूकुल (अथवा विश्वविद्यालय) का रूप दिया और उसमें शिष्य–शिष्य में भेद उत्पन्न करने वाली जो शिक्षा दी, उसका निकृष्ट फल दुर्योधन के रूप में प्रकट हुआ। सामाजिक समता के ह्यस के इस युग में क्षत्रिय कुमारों में अपने अभिजात कुलोत्पन्न होने का मिथ्या गर्व पनपा तो उधर तथाकथित हीन कुल में जन्में कर्ण {वस्तुतः कर्ण तो कुन्ती का कानीन पुत्र था, किन्तू उसका पालन अधिरथ नामक एक सारथी (सूत) ने किया था} को अपने पौरूष को प्रख्यापित करने के लिए कहना पड़ा–

सूतो वा सूतपुत्रों वा यो को वा भवाम्यहम्।

दैवायतं कुले जन्मः महायतं तु पौरूषम्।।

मैं चाहे सूत हूं या सूत पुत्र, अथवा कोई। किसी कुल–विशेष में जन्म लेना यह तो दैव के अधीन है, मेरे पास तो मेरा पौरूष और पराक्रम ही है, जिसे मैं अपना कह सकता हूं।

क्षत्रिय कुमारों के मिथ्या गर्व को सुंतष्ट करने के लिए ही एकलव्य जैसे शस्त्र विद्या के जिज्ञासु बनवासी बालक को आचार्य द्रोण ने अपना शिष्य बनाने से इंकार कर दिया। उस युग में धर्माधर्म, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, नीति.अनीति का अंतर प्रायः लुप्त हो चुका था। समाज में अर्थ की प्रधानता थी और जीविका के लिए किसी भी अधर्म को करने के लिए लोग तैयार रहते थे। यह जानते हुए भी कि कौरवों का पक्ष अधर्म, अन्याय और असत्य पर आश्रित है, भीष्म जैसे प्रज्ञापुरूष ने यह कहने में संकोच नही किया–

अर्थस्य पुरूषों दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित।

इति मत्वा महाराज बद्वोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।।

हे महाराज, पुरूष तो अर्थ का दास होता है, अर्थ किसी का दास नहीं होता। यही जानकर मैं कौरवों के साथ बंधा हूं।

इन्हीं विषम तथा पीड़ाजनक सामाजिक परिस्थितियों को वासुदेव कृष्ण ने देखा। फलतः शोषित, पीड़ित तथा दलित वर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति ने सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया। ताप–शाप–प्रपीड़ित वस्त जनों के प्रति उनकी संवेदना नाना रूपों में प्रकट हुई। तभी तो राजसभा में तिरस्कृत और अपमानित कृष्णा (द्रोपदी) को उन्होंने सखी बनाया तथा दुर्योधन के राजसी आतिथ्य को ठुकराकर दासी पुत्र समझे जाने वाले विदुर के घर का भोजन स्वीकार किया। लोकनीति के ज्ञाता होने के कारण अपने इस आचरण का औचित्य प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा–

सम्प्रीति भोज्यान्यनानि आपाद् भोज्यानि वा पुनः।

न च स्मप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्।।

उद्योग पर्व 91 / 25

हे राजन्, भोजन करने में दो हेतू होते हैं। जिससे प्रीति हो उसके यहां भोजन करना उचित है अथवा जो विपत्तिग्रस्त होता है वह दूसरे का दिया

भोजन ग्रहण करता है। आपका और मेरा प्रेम भाव भी नहीं है और न मैं आपदा का मारा हूं जो आपका अन्न ग्रहण करूं।

कृष्ण के इस उदात्त स्वरूप एंव चरित्र को शताब्दियों से भारतीय जनता ने विस्तृत कर रखा था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय जिस महापुरूष की विनम्रता और शालीनता को हमने विद्वत् वर्ग के चरण–प्रक्षालन जैसे, विनयपूर्ण कृत्य में देखा उसे ही यज्ञारम्भ में सर्वप्रथम अर्घ्य प्रदान कर सम्पूजित होते हुए भी हम देखते हैं। अपने युग के सर्वाधिक वयोवृद्व, ज्ञानवृद्व तथा अनुभववृद्व भीष्म ने जिसकी चरित्र–प्रशस्ति का गान करते हुए कहा –

वेद वेदांग विज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।

नृणा लोके हि कोन्योऽस्ति विशिष्टः केशवाद्दते।।

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्य हीः कीर्तिर्बुद्विरूत्तमा।

सन्नति श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते।।

त्रिद्दत्विग्–गुरूस्तथाऽऽचार्यः स्नातकों नृपतिःप्रियः।।

सर्वमेतद्वह्वषी केशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युत ।।

सभापर्व 38 / 19.20.22

वेद और वेदांगो का उन्हें सम्पूर्ण रीति से ज्ञान है, बल में भी वे किसी से कम नहीं हैं। इस मनुष्यलोक में कृष्ण से भिन्न दूसरा कौन विशिष्ट गुणों का आगार होगा। दान–दाक्षिण्य (शिष्टता), शास्त्रज्ञान, वीरता, लज्जाशीलता, कीर्ति, उत्तम बुद्वि, विनम्रता, श्री, धृति (यज्ञकर्त्ता),गुरू, आचार्य,स्नातक, राजा सदृश हमारे प्रिय हैं। इसीलिए हृषीकेश भगवान् कृष्ण हमारे द्वारा सम्मान के पात्र हैं।

कृष्ण के इस महनीय, निष्पाप तथा निष्कलुष चरित्र की ओर पुनः मानव जााति का ध्यान आकृष्ण करने का श्रेय उन्नीसवीं सदी के महान् धर्माचार्य तथा भारतीय नवजागरण के ज्योतिपुरूष स्वामी दयानंद को है। उन्होंने स्वरचित ग्रंन्थ सत्यार्थक में कृष्णचरित्र ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश में कृष्णचरित की श्लाघा करते हुए लिखा–''देखों, कृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण–कर्म–स्वभाव आप्त पुरूषों के सदृश है जिसमें कोई अधर्म का आचरण

श्रीकृष्ण ने जन्म से मरण–पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नही लिखा।'' स्वामी दयानंद के ही समकालीन बंगला के साहित्य–सम्राट् बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने 1886 में महाभारत को आधार बनाकर कृष्णचरित्र शीर्षक एक विवेचनामूलक जीवनचरित्र लिखा जिसमें भारतोक्त कृष्ण के इतिवृत को ही प्रमाणिक तथा विश्वसनीय मानकर पुराणों में वर्णित कृष्ण–प्रसंग को असंगत, बुद्वि तथा युक्ति विरूद्व फलतः अमान्य ठहराया। कृष्णचरित्र के समग्र अनुशीलन के पश्चात् बंकिम जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं उसे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया जाना उचित है।–''कृष्ण सर्वगुणसम्पन्न हैं इनकी सब वृत्तियों का सर्वाग सुन्दर विकास हुआ है, राजा होकर भी पण्डित हैं, शक्तिमान् होकर भी प्रेममय हैं। यह वही आदर्श है जिससे युधिष्ठिर ने धर्म सीखा और स्वयं अर्जुन जिसका शिष्य हुआ। जिसके चरित्र के समान महामहिमामण्डित चरित्र मनुष्य–भाषा में कमी वर्णित नहीं हुआ।'' (कृष्ण चरित्र, उपक्रमणिका)

म्हान् देशभक्त तथा भारत के स्वाधीनता संग्राम के अग्रणी नायक लाला लाजपतराय ने विगत शताब्दी के अंत में कृष्णचरित्र का विश्लेषण करते हुए एक अपयोगी ग्रंथ में 'योगीराज महात्मा श्रीकृष्ण का जीवनचरित्र' शीर्षक लिखा था, परंतू उनकी उर्दू अरबी तथा फारसी केक क्लिष्ट एवं अप्रचलित शब्दों से लदी नहीं होती थी। उन्होंने अपनी इस पुस्तक की भूमिका में उर्दू के उस स्वरूप् का समर्थन किया है जो फारसी–अरबी के कठिन शब्दों से बोझिल न हो। ऐसी कठिन उर्दू को उन्होंने मुसलमानी उर्दू की संज्ञा दी थी, जिसका लिखना यद्यपि लालाजी जैसे व्यक्ति के लिए कठिन नहीं था, किन्तू उन्होंने उस गंगा–जमनी (मिली–जुली) उर्दू में ही साहित्य लिखा जो जनसाधारण के लिए बोधगम्य थी। ध्यातव्य है कि पंजाब के आर्यसमाजी लेखकों ने उर्दू की एक ऐसी शैली विकसित कर दी थी जिसमें संस्कृत के तद्भव शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होता है, जिससे उसका हिन्दुई चरित्र उजागर होने लगा था।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने से पहले लालाजी ने कृष्ण विषयक सभी

महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का सम्यक् अनुशीलन किया था। महाभारत तो कृष्णचरित्र का प्रमुख उपादान है ही, इसके अतिरिक्त भागवत, हरिवंश, विष्णुपुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि में जहां जहां कृष्ण की प्रमुखता से या प्रसंगोपात स्वल्प चर्चा आई है, लालाजी ने इन सभी ग्रंथो की प्रस्तावना में करते हैं। मथुरा–क्षेत्र की भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक जानकारी के लिए उन्होंने एफ. एस.ग्राउस की 'मथुरा मेमोयर' नामक पुस्तक से सहायता ली। ग्राउस एक हिन्दी–प्रेमी आई.सी. एस. अधिकारी थे जो मथुरा तथा बुलन्दशहर के जिलाधिश रह चुके थे। उन्होंने दो बंगाली लेखकों की अंग्रेजी पुस्तकों से भी सहायता ली है, जिसकी चर्चा वे अपनी प्रस्तावना में करते हैं। सम्भवतः वे बंकिम–रचित कृष्णचरित्र को नहीं देख सके थे। प्रथम तो लालाजी बंगला नहीं जानते थे और तब तक उसका हिन्दी अनुवाद भी नहीं हुआ था। तथापि अपने विस्तृत अध्ययन, मौलिक विवेचना–कौशल और सर्वोपरि कृष्ण जैसे युगपुरूष के प्रति असामान्य श्रद्धा भाव से ही लालाजी जैसा उत्कृष्ट लेख कइस श्रेष्ठ कृति की रचना कर सका। निश्चय ही कृष्ण के प्रति उनकी यह आस्था, कृष्ण के महामानव होने में उनका प्रगाढ़ विश्वास तथा पुराण वर्णित कृष्णचरित्र के प्रति उनकी अनास्था एवं अरूचि का प्रमुख कारण उनके अन्तर्मन में उभरे वे ही विचार थे जो स्वामी दयानंद की बौद्विक विरासत ने उन्हें दिये थे। अतः प्रकारान्तर से यही मानना होग कि कृष्णचरित्र के अध्ययन और आलोचन में जो इस कृति का लक्ष्य रहा है। कालान्तर में आर्यसमाज से जुड़े अन्य लेखकों ने भी कृष्णचरित्र की विवेचना और मीमांसा उसी शैली में की है जिसे लालाजी ने आदर्श बनाकर प्रस्तुत किया था। गुरूकुल कांगड़ी के भूतपूर्व आचार्य पं. चमूपति का 'योगेश्वर, कृष्ण' 2006 वि. में प्रकाशित हुआ तथा इन पंक्तियों के लेखक की कृति 'श्रीकृष्णचरित्र' प्रथम बार 1958 में प्रकाशित हुई।

लालाजी ने इस कृति को आज से 103 वर्ष पूर्व 60 नवम्बर, 1900

को पूरा किया था। इस पुस्तक का कालान्तर में हिन्दी अनुवाद गुरूकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अंग्रेजी के अध्यापक मास्टर हरिद्वारसिंह 'बेदिल' ने किया था। मास्टर जी का विस्तृत परिचय तो उपलब्ध नहीं हैं, किन्तू जो जानकारी मिलती है उससे पता चलता है कि वे उर्दू में काव्य रचना भी करते थे जो उनके 'बेदिल' उपनाम से प्रकट होता है। उन्होंने प्रसिद्व रूसी लेखक निकोलस नोटोविच की उस पुस्तक का भी हिन्दी में अनुवाद किया था जिसमें ईसा मसीह की कथित भारत–यात्रा का विवरण दिया गया है। यह पुस्तक 'भारत शिष्य ईसा' नाम से 1914 में प्रकाशित हुआ था।

प्रस्तुत संस्करण : लाला लाजपतराय की अमर कृति को एक बार पुनः हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। आज से लगभग 80 वर्ष पूर्व जब यह अनुवाद हुआ था तो अनुवाद की भाषा में परिष्कार का अभाव था। हमारा प्रयास रहा है की अनुवाद भाषा को आद्यन्त परिष्कृत परिमार्जित किया जाये। ऐसा करने से अनुवाद में प्राचलता, प्रासादिकता तथा सहजता आ गई है। प्रकाशक ने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लाला लाजपतराय द्वारा रचित महापुरूषों के कतिपय जीवनचरित्रों को संशोधित तथा सुसंस्कृत रूप में पुनः हिन्दी पाठकों के समक्ष लाने का पुरूषार्थ किया है, एतदर्थ वे हम सबके साधुवाद के पात्र हैं। आशा है भारतीय धर्म, संस्कृति तथा जीवनदर्शन के महान् प्रेरणास्त्रोत योगिराज कृष्ण के इस जीवनचरित्र को पढ़कर हम सबमें कर्त्तव्यबोध जागृत होगा, रत्नाकर, नंदन वन, जोधपुर

–भवानीलाल भारतीय

कार्तिक अमावस्या (दीपोत्सव)

2054 वि.

श्रीयुत परमपूज्य महात्मा हंसराजजी भूतपूर्व प्रिंसिपल डी.ए.वी. कॉलेज के कर–कमलों मे श्रीयुत लाला लाजपतरायजी लिखित 'कृष्णचरित्र' (उर्दू भाषा) का हिन्दी अनुवाद सादर समर्पित करता हूं। जिस भांति आप सदा से राष्ट्रभाषा हिन्दी के परम हितैषी रहे हैं, उसी भांति इस भेंट को भी सानुग्रह स्वीकृत कीजिएगा।

आपका कृपापात्र

हरिद्वारीसिंह

प्रस्तावना

परमात्मा का कोट्यानुकोटि धन्यवाद है कि मैंने आज अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया, अर्थात अपने प्रण को पूर्ण करने में इस योग्य हुआ ि कइस पुस्तक को अपनी जाति की सेवा में उपस्थित करने में समर्थ हो सका। पाठक गण! सन् 1896 ई. में मैंने शिवाजी के जीवनचरित्र की भूमिका में कृष्ण महाराज के जीवनचरित्र लिखने का प्रण किया था, उसके पश्चात् सन् 1896 व 97 ई. के भंयकर अकाल ने इस देश को आ घेरा और अनाथरक्षा के काम से मुझे इतना अवकाश भी प्राप्त न हुआ कि मैं इस पुस्तक की तैयारी के लिए पुस्तकों का अवलोकन करता। सन् 1897 ई. तक पलंग ही मेरे नसीब में रहा। अपनी बीमारी के अतिरिक्त कई प्रकार के कष्ट और भी आ पड़े, जिससे बहुत काल तक पुस्तकावलोकन का अवसर न मिला तो भी सितम्बर सन् 1898 ई. में मैंने महर्षि स्वामी दयानंद और उनकी शिक्षा' लिखकर आपकी भेंट की। उसके पश्चात् मैं इस पुस्तक की तैयारी में लगा रहा, सुतरां आज मैं ढाई वर्ष के परिश्रम का फल आपके चरणों में उपस्थित करता हूं, परन्तू यह नहीं कह सकता कि यह भेंट आपके योग्य है या उस महान् पुरूष की हैसियत और पद के योग्य है जिसका नाम इस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर लिखा है, तो भी यह कह सकता हूं कि यदि मेरी इस पुस्तक से आपके चित्त में श्रीकृष्ण की जीवनी के संबंध में खोज की इच्छा उत्पन्न होवे और आप स्वयं स्वतंत्र छान–बीन से कृष्ण महाराज की जीवनी की घटनाओं की खोज करें तो मैं समझुंगा कि मेरा परिश्रम सफल हुआ और यदि इस पुस्तक से किसी आर्य

समुदाय को यह निश्चय हो जाए कि जो लांछन श्रीकृष्ण की जीवनी पर लगाये जाते हैं वह निर्मूल, असत्य और झूठे हैं तो मैं कृतार्थ हो जाऊंगा।

मैंने भूमिका में उन पुस्तकों के नाम लिख दिये हैं जिनसे मैंने इस पुस्तक के लिए घटना संबंधी बातों को चुना है। परंतू उन पुस्तकों के अतिरिक्त मैंने दो बङ्गाली महाश्यों द्वारा लिखित पुस्तकों से भी कुछ लाभ उठाया है और इसलिए मेरा कर्त्तव्य है कि उन्हें धन्यवाद दूं! मैंने इस पुस्तक के लिखने के लिए (1) बाबू बलराम मलिक की पुस्तक कृष्ण और कृष्णाइज्म (2) बाबू धीरेन्द्रनाथ पाल की 'लाइफ़ ऑफ श्रीकृष्ण को पढ़ा और (3) मिस्टर ग्राउज साहब की 'मथुरा मेमायर' (Memoir) को भी कहीं कहीं से देखा है। मेरी पुस्तक का प्रथम अध्याय (अर्थात्कृष्ण महाराज की जन्मभूमि) तो पुस्तक स. 3 पर अधिकतर निर्भर है। पुस्तक स.2 से मैंने अधिक सहायता ली है, परन्तू न तो मैंने उसकी प्रणाली का अनुकरण ही किया और न ही उससे चुनी हुई घटनाओं पर भरोसा ही किया है। साधारणतः मैंने सब घटनाओं को विष्णु पुराण, महाभारत और श्रीमद्भागवत से पड़ताल करके लिखा है। यदि किसी जगह केवल किसी दुसरे लेखक के विश्वास पर कोई घटना का उल्लेख किया है तो फुटनोट में उन महाशय का नाम लिख दिया है। भगवद्गीता के श्लोकों के भाष्य के लिए मैंने साधारणतः मिसेज एनी बेसेन्ट के भाष्य से लाभ उठाया है, परन्तू हर एक श्लोक के भाष्य का मैंने असल पुस्तक से मिलान कर लिया है और जहां भाष्य में न्यूनाधिक परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई वहां पर किया है।

इसके अतिरिक्त शायद इस बात की भी आवश्यकता है कि मैं कुछ शब्द अपनी भाषा व लेख के संबंध में कहूं। मैंने कई बार यह शिकायत सुनी है कि आर्यसामाजिक उर्दू साधारणतः और मेरी उर्दू विशेषतः खिचड़ी होती है। एक मुसलमान मित्र ने तो यह कहा कि हमने उर्दू को संयुक्त बना दिया है, परन्तू असल बात यह है कि आर्यसमाज की स्थिति से पहले उर्दू भाषा में हिन्दू धर्म की पुस्तकें बहुत थोड़ी थी क्योंकि संस्कृत व हिन्दी जानने वाले हिन्दुओं ने कभी अपनी धार्मिक पुस्तकों को उर्दू में लिखने का उद्योग नहीं किया। यदि किया होता तो केवल उर्दू (फारसी)

अक्षरों का प्रयोग किया। आर्यसमाज ने इस आवश्यकता को अनुभव किया कि पंजाब व संयुक्त प्रांत की शिक्षितमंडली के लिए अपनी धर्म पुस्तकों को उर्दू भाषा में तैयार करके उर्दू अक्षरों में प्रकाशित किया जाए। मुसलमानों ने उर्दू भाषा में फारसी व अरबी के शब्दों का प्रयोग किया था, क्योंकि साधारणतः उर्दू के लेखक फारसी व अरबी से भिज्ञ थे और उन लोगों को मुसलमानों के धार्मिक विचारों को प्रकट करने के लिए फारसी व अरबी के शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती थी, लेकिन जब अंग्रेजी सरकार ने पंजाब और संयुक्त प्रांत में उर्दू अक्षरों को सरकारी अदालतों में प्रचलित हुआ तो इन अक्षरों के जानने वाले हिन्दुओं की आवश्यकता को पूरा करने के लिए आवश्यक हुआ कि उन अक्षरों में ऐसी पुस्तकें तैयार की जाएं, जिन्होंने सरकारी स्कूलों में साधारण उर्दू, फारसी की शिक्षा पाई थी। जब उन्होंने अपने धर्म की छानबीन में या धार्मिक शिक्षा में संस्कृत और हिन्दी पुस्तकों का अवलोकन किया और उन विषयों पर भाषण या व्याख्यान सुना तो उनकी जुबान पर बहुत– से हिन्दी व संस्कृत के शब्द चढ़ गये, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने भाषणों में उन्हीं शब्दों का प्रयोग करने लगे। यहां तक कि लेख इत्यादि में भी उनके प्रयोग से न रूक सके और उनकी उर्दू एक विशेष प्रकार की उर्दू बन गई जिसमें यदि फारसी व अरबी के शब्द पाये जाते हैं तो साथ ही हिन्दी व संस्कृत के शब्द भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त मैं नहीं समझ सकता कि किसी मनुष्य को इस उर्दू पर क्या आक्षेप हो सकता है? उर्दू वास्तव में भारतवासियों की भाषा का नाम है, बल्कि किसी–किसी अवसर पर उर्दू और हिन्दुस्तानी शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। मुसलमानी राज्य में मुसलमानी साहित्य का जोर था और इसलिए पढ़े–लिखे हिन्दुस्तानियों की भाषा में फारसी और अरबी के शब्दों की अधिकता थी। जब कभी उनको गूढ़ विषयों के प्रकट करने के लिए विशेष शब्दों की आवश्यकता पड़ती थी तो वे मुसलमानी साहित्य से सहायता लेते थे। जब अंग्रेजी राज्य हुआ तो उस हिन्दुस्तानी भाषा में अंग्रेजी के शब्द आने आरम्भ हुए और इसी

तरह हिन्दुओं की भाषा में संस्कृत व हिन्दी के शब्दों का प्रचलन बढ़ने लगा। कोई कारण नहीं मालूम होता कि क्यों हिन्दू लोग अपने धार्मिक विचारों को प्रकट करने के लिए अब मुसलमानी साहित्य की भाषा का प्रयोग करें और हिन्दी व संस्कृत के शब्दों के स्थान में फारसी व अरबी के शब्द तलाश करें। भाषा वह है जो बोली जाए। बस, जब समय के हेर–फेर से हिन्दुओं की बोलचाल में अंग्रेजी, हिन्दी व संस्कृत के शब्दों का चलन हो गया तो कोई कारण मालूम नहीं होता, कि वे लेख भी उसी भाषा में न लिखे जाएं जिसको वे बोलते हैं। भेद इतना ही है कि अंग्रेजी सरकार फारसी के अक्षरों को हिन्दुस्तानी भाषा में लिखने के लिए प्रयोग करती है और सरकारी स्कूलों में इस हिन्दुस्तानी भाषा की शिक्षा फारसी अक्षरों में दी जाती है। इस कारण लाचारी से उन्हें फारसी अक्षरों का प्रयोग करना पड़ता है। हम प्रामाणिक उर्दू जानने वाले विद्वानों के विचारों के लेखों में हिन्दी के शब्दों का प्रयोग बता सकते हैं। तथ्य तो यह है कि हिन्दुओं के विचारों को प्रकट करते हुए हिन्दी शब्दों का प्रयोग आवश्यक है (देखो मौलाना मौलवी अल्ताफ हुसेन हाली की मनाजाते बेवा) बल्कि कुछ विद्वान तो असल उर्दू उसको कहते हैं जिसमें अरबी–फारसी जैसे शब्द बहुत कम हो या बिल्कूल न हो। उर्दू में से फारसी व अरबी के शब्द निकाल दिये जाएं तो शुद्व हिन्दी रह जाती है। भेद इतना है कि जो शब्द हिन्दी में साधारणतः प्रयोग में नहीं आते वे मूसलमान महाशयों को बुरे मालूम होते है और वे उनको उर्दू नहीं कहते, परन्तू जो शब्द साधारण तौर पर प्रयोग में आते है उनको वह उर्दू समझते हैं। अतः जो हिन्दू अपने स्वजातीय भाइयों के लिए ऐसी पुस्तके लिखते हैं जिनमें उनके धार्मिक या जातीय विचार या अवस्थाओं का उल्लेख है उनमें हिन्दी व संस्कृत के शब्दों का प्रयोग अनुचित नहीं है। कैसे सम्भव है कि कोई हिन्दू हिन्दुओं के लिए पुस्तक लिखता हुआ कृष्ण, अर्जुन व युधिष्ठिर के व्याख्यानों का अनुवाद उर्दू भाषा में करें और क्लिष्ट धार्मिक विचारों के प्रकट करने के लिए फारसी व अरबी के कठिन शब्छ तलाश करे। हिन्दू स्त्रियों के व्याख्यानों का अनुवाद करता हुआ फारसी व अरबी के शब्दों का प्रयोग तो बहुत ही बुरा मालूम होता है। ऊपर लिखी बातों से हमारे विचार में

हमारी भाषा पर जो आक्षेप किया जाता है वह हमको उपयुक्त नहीं लगता। यदि उद्योग करें तो हम मुसलमानी उर्दू में भी अपने विचारों को प्रकट कर सकते हैं, परन्तू हमें ऐसा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और न इसमें कुछ लाभ ही प्रतीत होता है। वरंच इसके विपरीत यदि हम ऐसा करें तो बहुत से हिन्दू भाई हमारे लेखों से पूरा लाभ भी न उठा सकेंगे। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि पुस्तकें लिखना और उनसे द्रव्य कमाना या केवल भाषा का लालित्य दिखाना न तो हमारा पेशा है और न हमारा उद्देश्य है। हम तो अवकाश के समय अपने विचारों को व्याख्यानों द्वारा नहीं पहुंचा सकते, उन तक अपने विचारों को लेख द्वारा पहुंचाएं। यदि हम उस समय को जो बहुत कम होता है, उर्दू भाषा के लालित्य तथा उसमें अपनी योग्यता व विद्वता दिखाने में खर्च करें, तो शायद हमसे कुछ भी न बन सकेगा। तथ्य तो यह है कि भारतवर्ष की तमाम देशी भाषाओं में इस समय परिवर्तन हो रहा है। इनमें नये–नये विचारों को प्रकट किये जाने के लिए भिन्न भिन्न भाषाओं के आश्रय की आवश्यकता है। किसी तरह भी यह नहीं हो सकता कि लोग उर्दू, फारसी की पवित्रता को स्थिर रखने के लिए उस सुगम प्रणाली को हाथ से छोड़ दें और स्वदेशी साहित्य की उन्नति को रोक दें।

इस पुस्तक को जब लिखना आरम्भ किया तो प्रथम यह विचार सामने आया था कि मुहावरे की उर्दू लिखी जाए, परन्तू फिर हमने देखा कि प्रथम तो मुहावरे की उर्दू जानने का दावा हम नहीं कर सकते और दूसरे हमें हिन्दी शब्दों को छोड़ने के लिए बहुत उद्योग करना पड़ेगा, जिसमें हमारा बहुत समय लगेगा। इसलिए हमने इस उद्योग को छोड़ दिया और जो शब्द हमारी लेखनी में आये उन्हें ही लेखबद्व किया। अन्त में हम कुछ शब्द अपनी पुस्तक के मूल्य के संबंध में प्रकट कर देना चाहते हैं, क्योकि हमारे बहुत–से मित्रों को यह शिकायत रहती है कि हम अपनी साधारण पुस्तकों को बहुत मंहगी करके बेचते हैं। प्रथम तो हम अपने मित्रों को यह बताना चाहते हैं कि हमारी सब पुस्तकों का

मूल्य अन्य भाषा अर्थात् बंगाली, अंग्रेजी या उर्दू में छपी पुस्तकों से कम है। दूसरे यह कि हमारी अच्छी से अच्छी पुस्तक में अभी तक हमको हानि रही है। पूरी लागत भी अभी वसूल नहीं हो पाई। यद्यपि हमारा विश्वास है कि हमारी पुस्तक को हजारों मनुष्यों ने पढ़ा है तथापि अब तक एक भी संस्करण का समाप्त न होना भी इनके प्रति सर्वसाधारण की कदर को जाहिर करता है। अतः ऐसी अवस्था में यह आशा रखना उचित नहीं है कि समय और मस्तिष्क के परिश्रम के अतिरिक्त हम पुस्तकों के छपाने के लिए अपने पास से धन भी खर्च करें। इस विषय में पंजाब की हिन्दू जनता को बंगाल की जनता या मुसलमान महाश्यों से कुछ शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में मैं यह तुच्छ भेंट अपनी जााति की सेवा में समर्पित करता हूं।

लाहौर

6—11—1900 **—लाला लाजपतराय**

भूमिका

संसार में कौन–सी ऐसी जाति है जिसने वीरों की देवता के तुल्य वंदना नहीं की और जिन्हें सृष्टि में एक साधारण जीवधारी विचार कर भी सृष्टिकर्ता का उच्चासन नहीं प्रदान किया । मनुष्य में यह बात स्वाभाविक है कि वह अपने से श्रेष्ठ शक्ति व कुशलता की ओर झुकता है और उसकी योग्यता या कुशलता के यथोचित विवेचन करने में अपने को असमर्थ देखता है तथा अपने अंतःकरण को उसकी महान् शक्ति से आकर्षित पाता है, तो वह स्वतः उस पुरूष–विशेष को ऐसा आदिपुरूष मानने लगता है,जो अपने गुण और लक्षण में एक है और जिसका न कोई उत्पन्न करने वाला है और न संहार ही कर सकता है। अन्तर केवल इतना ही है कि शिक्षित और धार्मिक जाातियां (यद्यपि इनका सत्कार, पूजन के दरजे से कम नहीं होता) इन पुरूषों में और उनके उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर में भेद की सीमा को मिटाने नहीं देतीं, परन्तु जो जातियां अनपढ़ होने के कारण अज्ञानरूपी अंधकार में फंसी है,उन्हें इसका ज्ञान या भेदाभेद का विचार दृष्टिगोचर रखना किसी प्रकार संभव नहीं–यों तो मुख से सब कुछ कह दें और उच्च स्वर से मानव–पूजन हैं। संसार की कोई विद्या या शिक्षण–पद्वति ऐसी नहीं जो इस विशय की शिक्षा न देती हो। इसकी पुष्टि में उन जाातियों के सम्मुख बहुत–से दृष्टान्त उपस्थित किये जाते हैं, जिन्हें इस बात का गर्व है कि हम तो एक परमेश्वर के उपासक हैं। अंग्रेजी भाषा का प्रसिद्व लेखक मि. कार्लाइल जिसने लालित्ययुक्त शब्दजटित

ळार पिरोकर उनमें अपने पवित्र विचारों के अमूल्य नग जड़े हैं, जिसने शब्द रूपी मोतियों को इस प्रकार लालित्य रूपी संबंध में संगठित किया है कि यह पृथ्वी की तह में से खोदे हुए हीरे और लालों से अधिक मूल्यावान और प्रकाशमान प्रकट होते हैं, अपने उस सुप्रसिद्व ग्रन्थ 'हीरो वर्शिप' में लिखता है कि –''संसार के महापुरूष वास्तव में उस महान् अग्नि की एक चिंगारी के सदृश हैं जिसके प्रकाश से यह संसार प्रकाशमान है, और जिसके ताप से खनिज, उद्भिज तथा मनुष्य, पशू आदि समस्त संसार स्थित है। जिसकी दाह मानों दया की वर्षा है और जिसकी ठंडक मानों ह्रदय में उमंग, उत्तेजना और आकर्षण उत्पन्न करने वाली हैं।''

2. वैदिक महापुरूष

उन्नीसवीं शताब्दी के इस अंग्रेजी विद्वान ने जो भाव इस पुस्तक में प्रकट किये हैं, वे लाखों वर्ष पूर्व आयोवर्त में आर्य ऋषियों द्वारा उनकी पुस्तकों में प्रकाशित हो चुके है।– संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रंथों में 'अग्नि' शब्द का प्रयोग (जिसका प्रयोग वैदिक ग्रन्थों में अद्वैत परमात्मा के लिए हुआ है) विद्वान् ऋषि, मुनि, आप्त, पुरूषों और महात्माओं के लिए हुआ है। यह भाव ऐसा सर्वव्यापक है मानों प्रत्येक भाषा और प्रत्येक देशवासी इसी रंग में रंगा है। संस्कृत भाषा में देव या देवता परमात्मा के लिए आता है।परन्तू महान् पुरूषों के लिए भी इनका प्रयोग होता है। अंग्रेजी में गॉड के अर्थ परमेश्वर के है; परन्तू उसी शब्द का बहुवचन 'गॉडस्' देवताओं के लिए आता है। मुसलमान मताव्लम्बी हज़रत मोहम्मद को नूरे इलाही कहते हैं।उधर ईसाई हजरत मसीह को खुदा का बेटा मानते हैं।बौद्वमत वाले महात्मा बुद्व को लार्ड कहकर पुकारते हैं। इसी प्रकार आर्यगण श्रीराम और श्रीकृष्ण को अवतार कहते हैं। हिन्दुओं में आप्त पुरूष, ऋषि, मुनि और विद्वानों के आदर और पूजन की परिपाटी वैदिक समय से चली आती है। वेदमंत्रों में स्थान–स्थान पर आज्ञा दी गई है कि तुम धर्मात्मा और आप्त पुरूषों का सत्कार करो और उनकी पूजा को अपना परम धर्म समझो। आर्य लोगों के नित्य कर्म में भी विद्वानों और आप्त पुरूषों के पूजन को एक मुख्य कर्त्तव्य कहा है और हर एक यज्ञ और उत्सव पर इसका

करना आवश्यक समझा है। ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् और दूसरे आर्य ग्रन्थों में इस विषय की पूरी पूरी विवेचना की गई है। पर किसी वैदिक ग्रन्थ में किसी महात्मा या आप्त पुरूष को परमात्मा का पद नहीं दिया है।

3. अवतार की यथार्थता

आर्यावर्त में धर्म में सबसे पहले बोद्व धर्म वालों की शिक्षा से लोगों को परमात्मा के आस्तित्व में महान् शंका उत्पन्न हुई और इस पवित्र भूमि के रहने वाले परमात्मा की उपासना के उच्चासन से गिरकर मानव पूजन के अंधकार रूपी पाश में आ फंसे। उपासना की यह परिपाटी जनसाधारण में ऐसी प्रचलित हुई कि वैदिक धर्मोपदेशकों ने भी बौद्व धर्मानुयायी बनना अपने लिए हितावह विचारा। ब्राह्मणों ने महात्मा बौद्व के स्थान में श्रीराम और श्रीकृष्ण को देवता बना कर अवतारों की पदवी दी। धीरे धीरे इस भाव ने यहां तक जोर पकड़ा की कुछ काल पश्चात् पौराणिक भाषा के सभी ग्रन्थों में इसी की चर्चा दिखाई देने लगी। चारों ओर अवतार ही अवतार प्रकट होने लगे। कवियों ने जो महान् पुरूषों के जीवन लिखने में अपने उच्च विचारों को प्रकट किया था और खगोल विद्या पढ़कर तथा सब प्राकतिक दृश्यों को देखकर काव्यबद्व करने में जो समय व्यतीत किया था, उन कविजनों के परिश्रम और संस्कृत विद्या को पौराणिक समय के धार्मिक ग्रन्थ रचयिताओं ने समयानुकूल परिवर्तित कर दिया।

बस फिर क्या था, विद्या तथा धर्म के तत्ववेत्ताओं ने इस परिपाटी की ऐसी चाल चला दी कि लोक–परलोक के प्रायः सभी सिद्वांत चाहे अच्छे हों या बुंरे परमेश्वरकृत कार्यो में सम्मिलित कर लिए गये और जनसाधारण को कारण तथा कर्ता में भेदाभेद का विचार न रहा। महान् पुरूषों के चरित्र इस सांचे में ढाले गये, कि दूसरी जाति वाले उनको मिथ्या, बनावटी और अपवित्र समझने लगे।

4.श्रीकृष्ण

कवियों के आत्यन्तिक प्रेम की उमंग से उत्पन्न मानसिक भावों की चंचलता और विश्वास की निर्बलता ने जो अपमान और अन्याय श्रीकृष्ण

महाराज के साथ किया है उसका दूसरा दृष्टान्त किसी भाषा में नहीं दिखाई देता– यद्यपि श्री तुलसीदास जी ने अपनी भक्ति की तरंग में श्रीराम–चन्द्रजी पर भी वैसे ही आक्षेप किये हैं, उन्होंने उनको उस दर्जे तक नहीं पहुंचाया है जहां तक पौराणिक साहित्य वालों ने श्रीकृष्ण को पहुंचा दिया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि श्रीरामचंद्र को श्रीकृष्ण के बराबर उपदेशक की उपाधि नहीं दी गई। श्रीराम को उनकी विमाता कैकेयी ने अपनी ईर्षा और द्वेष से वर बना दिया। इसलिए कवियों ने भी पितृभक्ति और भ्रातृस्नेह का मुकुट उनके माथे पर रख दिया। परन्तू यह मुकुट उसके मस्तक पर अधिक शोभायमान होता है जो प्रत्येक प्रकार से धार्मिक जीवन का आदर्श हो। अर्थात् शेष वस्त्र भी ऐसे उपयुक्त होने चाहिए जिससे मुकुट का सौंदर्य भली प्रकार से प्रकाशित हो। श्रीराम का धार्मिक जीवन यद्यपि एक आदर्श है, किन्तू उनके और श्रीकृष्ण के धार्मिक जीवन में बहुत अंतर है। श्रीकृष्ण जैसे सच्चे प्रेम रसिकता और वीरता में आदर्श माने जाते हैं वैसे ही सच्चे धर्मोपदेशक भी। उनका जन्म ऐसे समय में हुआ वैदिक धर्म का बेड़ा मिथ्या वैराग्य और दर्शन के भंवर में घूमता हुआ एक ओर बहता हुआ जा रहा था। धर्म अपने यथोचित स्थान से गिरता दीख पड़ता था, कभी मिथ्या वैराग्य और कभी शुष्क भ्रांतिमय दर्शन का पलड़ा भारी हो जाता था। इनको ऐसे समय में धर्मोपदेश करना पड़ा, अतएव इनका जीवन धर्मोपदेशक का एक उच्च आदर्श था और इसलिए हम देखते है कि भारतवर्ष में कदाचित एक भी पुरूष ऐसा नहीं, जिस पर श्रीकृष्ण की शिक्षा या उपदेश का कुछ असर न पड़ा हो–सभी श्रीकृष्ण के नाम की दुहाई देते हैं और उनके वचन को प्रमाण मानते हैं। हमारा यह कथन अत्युक्ति नहीं है कि भारत का धार्मिक आकाश इस समय भी श्रीकृष्ण के धर्मोपदेशों से प्रकाशमय दीख रहा है।

5.बीस वर्ष पहले श्रीकृष्ण के बारे में लोग क्या विचारते थे?

अभी बीस वर्ष नहीं बीते हम सरकारी पाठशालाओं में शिक्षा पाते थे, उस समय श्रीकृष्ण उन तमाम अपवित्र बातों का कर्ता माने जाते थे जो कृष्णलीला या रासलीला में दिखाई जाती है। उस समय श्रीकृष्ण हमारी

दृष्टि में तमाशबीन, विषयी और धूर्त दीख पड़ते थे और हम विचारते थे कि भारतवासी मात्र की सामाजिक निर्बलता इन्हीं की अश्लील शिक्षा का फल है। आर्य धर्म के विपक्षियों ने श्रीकृष्ण के विषय में ऐसी–ऐसी गप्पें उड़ा रखी थी जिससे हमारे ह्रदय में उनके लिए सम्मान के भाव का उदय होना तो दूर रहा हम उनके नाम से दूसरों के सम्मुख अपने को लज्जित अनुभव करते थे और भीतर ही भीतर उस पवित्रात्मा के नाम से घृणा करने लग गये थे। परन्तू जब पाठशाला से छुट्टी मिली, कुल्लाओं के पंजे से जान बची, संकीर्ण और अंधकारमय कोठरी से निकलकर प्रकाशमय मैदान में आये तथा वहां ज्ञान रूपी वायू का झोंका लगा तो दिमाग में एक विलक्षण परिवर्तन का संचार होने लगा।

6.मानसिक भावों में परिवर्तन

इस संकीर्णता से निकलकर बाहर मैदान में आते ही मानसिक शक्तियां कुछ ऐसी विस्तृत हुई कि वे गूढ़ और तात्त्विक विषयों के मनन की ओर झुकने लगी और झट मेरे कान में भनक पड़ी –अरे, एक ओर तो श्रीकृष्णचंद्र के नाम के साथ ऐसी अश्लील बातें जोड़ी जाती है, उधर उन्हीं को उस जगत्प्रसिद्व ग्रन्थ 'गीता' का रचयिता कहा जाता है। यह पुस्तक अपने विषयों का गूढ़ता, सच्चे उपदेश, भाषा की सरलता, भक्ति और प्रेम की दृष्टि से संसार के मनुष्यकृत ग्रन्थों में अद्वितीय है, जिसकी अलौकिक लेख प्रणाली अपना आदर्श आप ही कही जा सकती है, कानों में यह भनक पड़नी थी कि साथ ही किसी ने उत्तर दिया–जो नीति और आध्यत्मिक विद्या का ऐसा उपदेशक हो वह ऐसा तमाशबीन, विषयी और धूर्त नहीं हो सकता जैसा लोग कृष्णलीला में दर्शाते हैं। हमारे ह्रदय में अभी इस भाव का अंकूर ही मात्र था और अभी भला भांति जड़ नही पकड़ सका था, कि एक दूसरी भनक सुनाई दी और वह यह थी कि श्रीकृष्णचंद्र पर विषयी होने का जो कलंक लगाते हैं वह केवल कवियों का हस्तक्षेप है। इनको किसी प्रकार वास्तविक घटना नहीं कह सकते । फिर ऐसे प्रमाण पाये जाते हैं जिससे सिद्व होता है कि इन लोगों (कवियों) ने अपने इच्छानुकूल उन्हें अपना लक्ष्य बना लिया है। निदान यह भाव ऐसे परिपक्व होते गये कि कुछ कालोपरान्त उनके ह्रदय पर श्रीकृष्ण की

बुद्विमत्ता और नीति ने अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया। अब वह समय आ पहुंचा है जब कोई शिक्षित मनुष्य इस बात पर विश्वास नहीं करता कि कृष्ण के आचरण वास्तव में वैसे ही थे, जैसा कृष्णलीला में दिखलाते हैं। धर्म–विषयक चाहे परस्पर किनता ही विरोध हो, पर शिक्षित मण्डली अब तक उनके माथे मंढती है। पुराने फैशन के पौराणिक धर्मनिष्ठा वाले भी इस यत्न में हैं कि श्रीमद्भागवत में से प्रेम और भक्ति का निचोड़ निकालें और उससे यह सिद्व करें कि उनकी मोटी बातों की तह में पवित्र प्रेम और अमृत रूपी भक्ति के अमूल्य रत्न दबे पड़े हैं।

इस प्रकार हरएक पुरूष इस अनुसंधान में लगा है कि उसकी तह से दुर्लभ और अमूल्य रत्न खोज निकालें और उस महात्मा के जीवन की घटनाओं को इधर–उधर से उकत्र करके जीवनचरित्र के रूप में प्रकाशित करें। यह बात प्रमाणित है कि पूर्व काल में जीवनचरित्र लिखने की परिपाटी न थी इसी से श्रीकृष्ण का कोई जीवनवृत्तान्त हमारे साहित्य में मौजुद नहीं है। इसलिए उनके जीवन की कहानी क्रमानुसार लिखना मानो उन कवियों के हस्तक्षेपों और विश्वासों के संग्रह से उन वास्तविक घटनाओं का सार निकालकर अलग करना है, जिनको हम युक्तिसंगत कह सकें और जिनके क्रमानुसार संग्रह को हम जीवनचरित्र की पदवी दे सकें।

7.पुराणों की प्राचीनता

श्रीकृष्ण के नाम से जितनी घटनाएं जनसाधारण में प्रचलित हैं उन सबके कारण पुराण हैं और हिन्दू धर्म ने इन्हें उनके ही प्रमाण के अनुसार सच्चा मान लिया है। इसलिए सबसे पहले यह अनुसंधान करना उचित होगा कि इन पुराणों को कहां तक ऐतिहासिक होने का गौरव प्राप्त है या उनके लेख कहां तक विश्वास–योग्य है?

(अ) प्राचीन आर्य जाति ऐतिहासिक विद्या से अनभिज्ञ नहीं थी

अपनी सम्मति स्पष्ट रूप से प्रकट करने से पूर्व एक बात कह देना आवश्यक है। हम इस बात के मानने वाले नहीं हैं कि प्राचीन काल में

यद्यपि आर्य जाति विद्या, सभ्यता और दर्शन–शास्त्र में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी और सब शिल्प विद्या आदि का वर्णन संस्कृत में अब तक पाया जाता है, परन्तू यह सब कुछ हो हुए भी वह ऐतिहासिक विद्या से पूर्ण अनभिज्ञ थी और उसमें न इतिहास पढ़ने की रूचि थी और न लिखने की परिपाटी।

वास्तविक बात यह है कि संस्कृत साहित्य की वर्तमान दशा को देखकर हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन आर्य लोग अमुक–अमुक विद्या और शास्त्र में निपुण थे, पर निर्णयपूर्वक यह नहीं कह सकते ि कवे उनके अतिरिक्त अमुक विद्या से निरे अनभिज्ञ थे। प्राचीन आर्य सभ्यता को इतना अधिक समय व्यतीत हो गया है कि उसका यथार्थ अनुमान करना असम्भव नही ंतो कठिन अवश्य है। फिर इसी अंतर में यहां कई परिवर्तन हुए हैं इसलिए किसी विद्या विशेष के ग्रन्थों के न मिलने से यह परिणाम निकाल लेना कि पुराने आर्य लोग उस विद्या से अनभिज्ञ थे, युक्तिसंगत नहीं। रमेश्वर जाने कितने अपूल्य रत्न पुरानी इमारतों के खंडहरों में दबे पड़े हैं और कितने तो भूमि में ऐसे समा गये हैं कि अब उनके अवशेषों के रूप में दर्शन होना दुर्लभ है और शायद अभी बहुत–से ऐसे भी है जो ब्राह्मणों के बस्तों में पड़े सड़ रहे हैं। उन बेचारों को यह भी ज्ञात नहीं कि इन फटेऋपुराने जीर्ण ग्रन्थों में विद्यमान कैसे उच्चतक भाव नष्ट हो रहे हैं, जिनको जानने के लिए आधुनिक शिक्षित संसार लाखों रूपये खर्च करने के लिए उद्यत है। प्राचीन आर्य सभ्यता के विष्य में अनुसंधान आरंभ हो गया है और लोग इन सब रत्नों को खोदकर निकाल रहे हैं। ऐसी अवस्था में निर्णय सहित यह कहना असम्भव प्रतीत होता है कि प्राचीन आर्य जाति अमूम विद्या से अनभिज्ञ थी। इसलिए हम पुनः यही कहते हैं कि वर्तमान साहित्य को देखकर कभी यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि प्राचीन आर्य इतिहास विद्या से अनभिज्ञ थे। हमारे साहित्य में अभी ऐसे प्रमाण मौजुद हैं जिनसे यह परिणाम निकाल सकते हैं कि प्राचीन समय में इतिहास पढ़ना और लिखना विशेष मण्डली का यही काम था कि राजा और महाराजाओं के दरबार में प्राचीन कथाओं को सुनाया करें।

प्रचीन ग्रन्थों, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और पौराणिक समय के साहित्य में इस विषय के अनके प्रमाण उपस्थित हैं। वैदिक साहित्य में भी जहां जहां भिन्न भिन्न विद्याओं और शास्त्रों का वर्णन किया है वहां पुराण और इतिहास शब्द भी मिलता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि उस समय पुराण और इतिहास एक पृथक् लेखन विद्या का नाम था जिसे आजकल ऐतिहासिक साहित्य कहते हैं। प्रमाण के लिए हम यहां कुछ वाक्य अद्वत करते हैं।

छान्दोगयोगनिषद् में, जो दस उपनिषदों के अन्तर्गत है और जिसे श्री स्वामी शंकराचार्य, श्री स्वामी दयानंद और अन्य विद्वानों ने प्राचीन माना है, एक स्थान पर भिन्न भिन्न विद्याओं का वर्णन करते हुए इस प्रकार का लेख है–

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं

सामवेदमाथर्वणचतुर्थमितिहासपुराणं पन्नमम्।

(1) अर्थात हे भगवान्! मैं ऋग्, यजुः साम और अथर्व को जानता हूं और इसके अतिरिक्त इतिहास और पुराण से भी भिज्ञ हूं।

(2) एक स्थान पर शतपथ ब्राह्मण (14–6–10–6) में कहा गया है–

ऋग्वेदो यजुवेंदो सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासःपुराणं विद्या

उपनिषदः श्लोकाःसूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यातानि।।

अर्थ–ऋग्, यजु, साम अथर्ववेद, इतिहास–पुराण,उपनिषद् सुत्र,श्लोक और उनके व्याखान आादि।

(3) तैत्तिरीय आरण्यक में दूसरे के नवें श्लोक में लिखा है।

ब्रह्मणीनीतिहासान् पुराणनि कल्पान् गाथा नारांशसीः।

अर्थात्–वेद, इतिहास, पुराण, गाथा आदि।

(4) इसी प्रकार मनुस्मृति में तीसरे अध्याय के 232 वें श्लोक में भी आख्यान, इतिहास और पुराण शब्द कई स्थानों पर आयेंहै। रामायण, महाभारत और पुराणों के पढ़ने से विदित होता है कि पुराकाल में इतिहासवेताओं और इतिहासलेखकों के अतिरिक्त एक ऐसी मंडली होती

थी जिनका कर्त्तव्य यही होता था ि कवे राजदरबार में प्राचीन घटनाओं और राजा–महाराजाओं तथा वीर योद्धागणों के चरित्र सुनाया करें। महाभारत में स्थान स्थान पर आया है कि सूत महाराज ने अमुक–अमुक वृत्तांन्त वर्णन किया।

(5) संस्कृत का प्रसिद्व कोशप्रणेता अमरसिंह पुराण शब्द की व्याख्या करता हुअस कहता है कि पुराण के पांच लक्षण हैं। यों कहिये कि पुराणों के पांच प्रकार के विषय होते हैं।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितन्नैव पुराणं पन्नलक्षणम् ।।

अर्थात्–सृष्टि की उत्पति का वर्णन, सृष्टि–विशेष का वृत्तांन्त, प्रसिद्व घरानों का इतिहास, भिन्न भिन्न समय का वर्णन और महापुरूषों के जीवनचरित्र।

(6)विष्णुपुराण के तीसरे खण्ड के 6ठे अध्याय के16 वें श्लोक में इतिहास को चार भागों में विभाजित किया है।

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्प सिद्विभिः । पुराणं

संहितान्नके पुराणार्थ विशारदः।।

अथर्ववेद वक्ता व्यास ने एक पुराण संहिता लिखी है, जिसमें चार प्रकार के विषय थे अर्थात्

1. आख्यान उसको कहते हैं। जिसे वर्णन करने वाले ने निज नेत्रों से देखा हो।
2. उपाख्यायन उन घटनाओं को कहते हैं जिन्हें वर्णन करने वाले ने अन्य मनुष्यों से सुनकर लिपिबद्व किया हो।
3. गाथा उन गीतों का नाम है जो पूर्व जनों के बारे में गाये जाते हों।
4. कल्पसिद्वि उस परिपाटी का नाम है जो श्राद्व के समय में की जाती है।

उपर्युक्त प्रमाणों के होते हुए निश्चित रूप से

यह कहना कि प्राचीन आर्य लोगों को इतिहास मालूम न था और उनके समय में इतिहास–लेखकों

का कुछ मान न था, इस प्रकार का कथन है जिसको स्वीकार करने के लिए हम कदापि उद्यत नहीं। हम ऊपर कह आये हैं कि समय के परिवर्तन से यदि संस्कृत भाषा में किसी शास्त्र–विशेष का लोप हो गया तो उससे यह परिणाम निकालना कि उस भाषा (संस्कृत) में उस शास्त्र का कभी अस्तित्व ही न था, सर्वथैव मिथ्या है। हमारे पास इस तथ्य के लिए बहुत प्रमाण है कि प्राचीन साहित्य की बहुत–सी पुस्तकों का कुछ पता नहीं। आर्यों की धर्म पुस्तकें (अर्थात ब्राह्मण, सू और स्मृतियां) भी काल के हस्तक्षेप से रक्षित नहीं रही हैं, ऐसी दशा में पुराणों और इतिहासों का लोप हो जाना और इस समय न मिलना आश्चर्यजनक नहीं। अतएव हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि प्राचीन आर्यो के समय में इतिहास और जीवनचरित्र विद्यमान थे और उनको इतिहास और गाथा कहते थे। अब यह प्रश्न उठता है कि जो पुस्तकें वर्तमान काल में संस्कृत में पुराणों के नाम से प्रसिद्व हैं उन्हें ऐतिहासिक गौरव प्राप्त है या नही? यदि नही ंतो इसका कारण क्या है?

(आ) पुराणों का ऐतिहासिक गौरव

ळम निःशंक यह कहने को उद्यत हैं कि वर्तमान पुराणों को ऐतिहासिक गौरव प्राप्त नहीं है। स्वयं उन्हीं पुराणों में इस बात का प्रमाण मिलता है ि कवह प्राचीन साहित्य के पुराण और इतिहास नहीं है वरंच परवर्ती आर्य जाति अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को खो बैठी थी और अपने धर्म और कर्म को नष्ट कर 'हिन्दू' के कलंकित नाम से पुकारी जाती थी। जब उसको अपने आपको, अपने धर्म को, अपनी मानमर्यादा तथा अपनी स्त्रियों के सतीत्व को संरक्षित रखने के लिए अपने प्राचीन आचार–व्यवहारों का त्याग करना पड़ा जिससे उनका प्राचीन धर्म–कर्म ऐसा दब गया कि उसके चिह्न भी शेष न रहते यदि अंग्रेजी राज्य के आगमन के साथ उस पर प्रकाश की आभा न पड़ती और उसके ऊपर के कूड़ा–करकट को उठा देने का उन्हें (आर्य जाति को) अवसर न मिलता।

प्रत्येक सुशिक्षित आर्य जानता है कि पुराण 18 हैं परन्तू इनके अतिरिक्त बहुत–सी ऐसी पुस्तके पाई जाती हैं जो उपपुराण के नाम से

प्रसिद्व हैं जो ऐसे किस्से–कहानियों से भरी हैं कि कोई भी मनुष्य उन्हें पढ़कर सत्य या वास्तविक नहीं कह सकता। उनका अधिकांश भाग तो ऐसी बातों से परिपूर्ण है जो बुद्धि ओर प्रकृति दोनों के विरूद्व हैं और उनका अनुमान होना भी असम्भव है।

कुछ अंग्रेज तथा अनेक आर्य विद्वानों ने सहमत होकर यह व्यवस्था दी है कि वर्तमान पुराण वह पुराण नहीं है जिनका वर्णन उपनिषदों या अन्य प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। उन अंग्रेज पुराणतत्ववेताओं ने वर्तमान पुराणों का समय निश्चय किया है जिसके मानने से यह परिणाम नहीं निकलता कि वर्तमान काल में से कोई भी विक्रम संवत् के बहुत पहले के हैं। इनमें से बहुत–से पुराणों का समय तो 14 वीं या 15 वीं शताब्दी ईस्वी तक निश्चित किया गया है। इसके अतिरिक्त पुराणों में बहुत–से ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्व होता है कि प्राचीन पुराण तो लुप्त हो गए और वर्तमान पुराण आधुनिक समय में बनाये गये हैं।

(1) मत्स्यपुराण में ब्रह्मवैवर्त पुराण का वर्णन करते हुए लिखा हैः

1

अर्थ–'' वह पुराण जिसका सूतजी ने नारद के सामने वर्णन किया और जिसमें कृष्ण का महत्त्व, रथन्तर कल्प के समाचार और ब्रह्म वराह चरित्र वर्णित हैं अठारह हजार श्लोकों में है और उसका नाम ब्रह्मवैवर्त पुराण है।''

अब यदि हम उस पुराण को देखें जो आजकल ब्रह्मवैवर्त पुराण के नाम से प्रसिद्व है तो हमको ज्ञात होगा कि इसमें न ब्रह्म वराह चरित्र है, न रथन्तर कल्प के समाचार हैं और न उसमें इस बात का ही कहीं पता लगता है कि इस पुराण का सूतजी ने नारद के सामने वर्णन किया था।

2

विष्णु पुराण के तीसरे खंड के छठे अध्याय के 16 से 19 श्लोक तक यों लिखा हैः

वेदव्यास ने (जो पुराणों की विद्या में पूर्ण थे) एक संहिता बनाई थी

जिसमें आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पसिद्वि थी। उन्होंने फिर यह पुराण अपने प्रसिद्व शिष्य लोमहर्षण को दे दिया। सूत लोकहर्षण के 6 शिष्य हुए– सावर्णि, अग्निवर्त्त, मित्रायु, वैशम्पायन, अकृत व्रण और हारीत। इनमें से कश्यप, हरित और वैशम्पायन ने एक एक पुराण संहिता लिखी, परन्तू सबका मूल वही संहिता थी जिसका नाम लोमहर्षण संहिता था और जिसको लोमहर्षण ने रचा था।

(3)

3

अर्थ– लोमहर्षण सूत रचयिता ने व्यास से पुराण प्राप्त किया और सूतजी उसके शिष्य हुए। लोमहर्षण सूत और दूसरों ने पुराण संहिताओं को रचा।

(4) इसकी पुष्टि भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध के तीसरे अध्याय के श्लोकों से होती है।

4

अर्थ– आरूणि, कश्यप, हारीत, अकृतव्रण, वैशम्पायन और ह्वर्तमेंय ये 6 पौराणिक थे। उन्होंने मेरे पिता से पुराण सीखे जो स्वयं व्यास के शिष्य थे और मूल पुराण संहिता का अध्ययन करके एक एक पुराण रचा।

(5) भागवत के 12 वें स्कन्ध 7 वें अध्याय के 5वें श्लोक पर टीका करते हुए पं. श्रीधर यह लिखते हैं:

5

अर्थ– प्रथम व्यास ने संहिता लिखी और उसे मेरे पिता लोमहर्षण को सिखाया। उनसे आरूणि और दूसरों ने एक संहिता पढ़ी और उनका शिष्य मैं हूं।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्व होता है कि वर्तमान पुराणों के रचीयता के विचार में वेदव्यास की बनाई हुई पुराण संहिता वास्तव में एक

ही थी और फिर उससे 6 संहिताएं हुई। वे 6 संहिता कौन–सी थी और फिर उनका क्या हुआ, इसका कुछ पता नहीं चलता । मि. रमेशचन्द्र दत्त, प्रोफेसर मैक्समूलर तथा अन्य यूरापीय पुरातत्ववेतागण भी इस विषय में सहमत हैं कि प्राचीन पुराणों का कुछ पता नहीं चलता और वे लुप्त हो गए। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास जी की बनाई पुराण संहिता (यदि वास्तव में व्यास जी ने कोई इसनाम की पुस्तक रची थी) तो बौद्वों के समय में नष्ट हो गई और पौराणिक समय में दन्तकथाओं अथवा अन्य लेख प्रमाणों के आधार पर वर्तमान पुराणों की रचना हुई। उस समय से आज पर्यन्त इनमें बराबर कुछ–न–कुछ काट–छांट चली आई है और समय समय पर कुछ पंडित महाशय अपने वाक्चातुर्य या बुद्धि का परिचय देने के लिए टिप्पणी के तौर पर नवीन श्लोक इनमें बढ़ाते रहे हैं। इन पंडितों के वंश वालों ने अपना कर्त्तव्य समझा कि पुराणों पर कुछ न कुछ अपनी बुद्वि लड़ावें और दासत्व के समय के दुर्बल विचारों को सिम्मिलित करके उनको एक अनोखी खिचड़ी बना दिया। यहां तक कि वर्तमान पौराणिक साहित्य विविध प्रसंगो का एक ऐसा संग्रह बन गया है जिसमें से वास्तविक तथा कल्पित रचनाओं को पृथक् करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव हो चला है। सम्भव है कि इस संग्रह में सच्ची घटनाएं और उत्तम विचारों के मोती भी दबे पड़े हो।

परन्तू इस समय भी उनकी अवस्था ऐसी शोचनीय है कि उनमें से यथाक्रम किसी घटना को निकालना दुर्लभ प्रतीत होता है। प्राचीन आर्य सभ्यता का विद्यार्थी जिसने उपनिषदों की अद्वितीय विद्या तथा दर्शनों का अध्ययन करके प्राचीन आर्यो की सभ्यता के उत्कर्ष का विचार किया है, वह जब पौराणिक साहित्य तक पहुंचता है तो यकायक उसके भीतर से ठंडी सांस निकलती है। यदि उसका आर्यो के नाम से कोई संबंध है या उसकी देह में उन्हीं प्राचीन पाई थी तो स्वतः ही उसके नेत्रों से आंसुओं की धारा बह निकलती है और वह चिल्ला उठता है–'हाय! हम कहां थे और कहां आ गये। वैदिक ऋषियों की सन्तान! जिन्होंने दर्शनशास्त्रों की रचना की थी, उनकी ही सन्तान फिर पुराणों

और तंत्रों की रचयिता बनी है!!'

कदाचित् आपके मन में यह प्रश्न उपस्थित हो कि श्रीकृष्ण के जीवनचरित्र का पौराणिक विषय के वादानुवादों से क्या प्रयोजन है, तो हमारा उत्तर यह है कि दुर्भाग्यवश श्रीकृष्ण का वह जीवन–वृत्तांत जो कुछ लोगों को विदित है, अथवा हो सकता है, उस सबका आधार पोराणिक साहित्य ही है। पुराणों ने जातीयता को नष्ट कर मानुषी जीवन को निर्बल बनाने और उसे नीति तथा आध्यात्मिक स्थिति से गिराने में जो काम किया है वह सबसे अधिक उसी महान् पवित्रात्मा से संबंध रखता है, जिसकी संक्षिप्त जीवनी लिखने के हेतू हमने आज लेखनी उठाई है।

श्रीकृष्ण पर पुराणों ने क्या–क्या अत्याचार नहीं किये हैं? यहां तक कि संसार के एक महापुरूष को अपने क्षुद्र भावों के तीरों से ऐसा बेधित किया कि उसकी सूरत ही बदल गई है। इन्हीं पुराणों के कृपाकटाक्ष से अधिकांश आर्य जनों का मन श्रीकृष्ण की ओर ऐसा फिर गया है और वे उन्हें विषयी और अपवित्र समझने लगे हैं। उसी पौराणिक शिक्षा के कारण बहुत से आर्य शिक्षा पाकर मुसलमान और ईसाइयों के जाल में जा फंसे। कई बार अच्छे–अच्छे सुशिक्षित पुरूषों के मुख से सुना गया है कि इस धर्मभूमि की समस्त अवनति और आपदाओं के मूल में श्रीकृष्ण ही हैं जिन्होंने अपनी निकृष्ट शिक्षा से महाभारत का युद्व कराया और देश को अस्तव्यस्त किया। जब हम किसी आर्य सन्तान के मुख से महात्मा कृष्ण के विषय में ऐसे अपमानसूचक शब्द सुनते हैं, हमारा कलेजा मुंह को आ जाता है। परन्तू इन बिचारे नई सभ्यता वालों का क्या अपराध है। पौराणिक गप्पों ने उन्हें इस प्रकार चक्कर में डाल दिया है जिससे उनके लिए अपने जातीय साहित्य से सत्य और असत्य को पृथक् करना असम्भव प्रतीत होता है। हमारे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि पुराणों में सत्य का लेश भी नहीं। हमारा तो मत है कि हमारी जाति का इतिहास कदाचित् कुछ पुराणों में भी मिल सके। परन्तू उपमा आादि अलंकार, यार लोगों की मनघड़न्त और हर पीढ़ी के पंडितों के स्वेच्छाचार का इस साहित्य पर इतना अधिकार है कि उसमें से सच्ची घ्टनाओं का निकालना यदि संम्भव नही ंतो बहुत ही कठिन है।

यों तो लगभग प्रत्येक पुराण में श्रीकृष्ण के जीवन के कुछ–न–कुछ वृत्त अवश्य मिलते हैं, परन्तू जिनमें यथाक्रम या सविस्तार वर्णन किया गया है, उनके नाम ये हैं– ब्रह्मवैवर्त, भागवत, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण। इनके अतिरिक्त 'हरिवंश' नामक पुस्तक में भी श्रीकृष्ण के वृत्तांत बहुत पाये जाते है और महाभारत में भी प्रायः कृष्ण का वर्णन आता है। साधारणतः तो पुरातत्वताओं का यह मत है कि इन पुराणों में विष्णुपुराण और महाभारत सबसे प्राचीन है जान पड़ते है, परन्तू इनके विषय में भी यह निर्णय करना कठिन है कि इनका कौन–सा भाग पुराना और कौन–सा नया है।

प्रोफेसर विल्सन (जिन्होंने विष्णुपुराण का अंग्रेजी अनुवाद किया है) का मतहॅ कि विष्णुपुराण में इस बात के बहुतेरे प्रमाण मौजुद हैं कि उसमें दसवीं शताब्दी ईस्वी तक के वृत्तातं पाये जाते हैं। तथापि भागवत तथा अन्य पुराणों की अपेक्षा विष्णुपुराण अधिक प्राचीन है। भागवत के विषय में तो यह विवाद चला आता है कि कौन–सी भागवत अठारह पुराणों में गिनती करने योग्य है?श्रीमद्भागवत या देवी भागवत? वैष्णव अपनी भागवत को वास्तविक पुराण बतलाते हैं और शाक्त अपनी पुस्तक को। युरोपीय विद्वानों का मत है कि श्रीमद्भागवत तेरहवीं शताब्दी ईस्वी में लिखी गई है। जो कुछ हो विद्वानों की दृष्टि में भागवत से विष्णुपुराण अधिक प्राचीन है, तथा उसमें अलंकार का मिश्रण भी कम होने से उसकी बातें अधिक विश्वसनीय मानी जाती है।

इसके अलावा औरों की अपेक्षा विष्णुपुराण इस योग्य है कि घटनाओं के अनुसंधान की नींव उसी पर रखी जाये। रचना–काल की दृष्टि से हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्मपुराण भी विष्णुपुराण से पश्चात् के माने जाते हैं। प्रोफेसर विल्सन की सम्मति है कि ब्रह्मवैवर्त गोकुलिए गोसाइयों की रचना है और 15 वीं शताब्दी ईस्वीं से पीछे की लिखी हुई है। अब रहा महाभारत, से उसके विषय में याद रखना चाहिए कि वर्तमान महाभारत असली महाभारत नहीं है। या यों कहो कि : कोई यह नहीं बता सकता कि वर्तमान महाभारत में कितने श्लोक असली हैं और कितने प्रक्षिप्त अर्थात् बाद में मिलाये गये हैं। जैसे पुराणों के विषय में साधारणतः यह कहा जाता है ि कवे वेदव्यास जी के बनाए हुए हैं वैसे ही महाभारत के विषय में

भी यही कहा जाता है। परन्तू जैसा हम ऊपर कह आये है कि कम–से–कम वर्तमान पुराण व्यास के रचे हुए नहीं है वैसे ही हमारे पास इस बात के भी बहुत–से प्रमाण हैं कि आधुनिक महाभारत का कुल अंश व्यास जी का लिखा हुआ नहीं है। स्वयं महाभारत के आदिपर्व से प्रतीत होता है कि व्यास जी ने असल महाभारत रचकर वैशम्पायन को सुनाया, जिसने लोकहर्षण को उसकी शिक्षा दी और जिससे उसके पुत्र उग्रश्रवा ने उसे सीखा। आधुनिक महाभारत के पहले दो श्लोकों में ग्रन्थकर्ता (जो अपना नाम नहीं प्रकट करता) लिखता है िकवह उस महाभारत को लिखता है जो उग्ररवा ने कुलपति शौनक के (यज्ञ बारह वर्ष के यज्ञ) में ऋषियों के सम्मुख सुनाई थी।

आदिपर्व प्रथम अध्याय के आठवें श्लोक से प्रकट होता है कि स्वयं उग्रश्रवा को भी आठ हजार श्लोक याद थे और उस समय भी यह विवाद था कि वास्तविक महाभारत कौन–से श्लोक से प्रारम्भ होता है।

आादिपर्व के निम्न श्लोक से प्रकट होता है कि व्यास जी ने असल में केवल चौबीस हजार श्लोक बनाए थे और फिर डेढ़ सौ श्लोकों में उन 24 हजार का संक्षिप्त आशय वर्णन कर दिया था।

श्लोकार्थ–व्यास ने असल में 24 हजार श्लोकों में महाभारत बनाई, विद्वान उसी को असल महाभारत कहते हैं। परन्तू आधुनिक महाभारत में 1 लाख 7 हजार 3 सौ 9 श्लोक हैं और 268 श्लोकों में तो केवल सूचीपत्र लिखा गया है। इससे यह परिणाम निकलता है कि आधुनिक महाभारत में कितनी वृद्वि हुई है और ठसी से उसकी ऐतिहासिक स्थिति कितनी कम हो गयी है। अनेक हस्तलिखित प्रतियों में तो आदि के कई अध्याय ही लुप्त हैं जिससे प्रोफेसर मैक्यमुलर, मि. रमेशचंद्र दत्त रचित कविताबद्व महाभारत की भूमिका से यह परिणाम निकालते हैं कि यह सारा अध्याय पीछे से बढ़ा दिया गया है। सारांश यह कि वर्तमान महाभारत में बहुत कुछ मिलावट है। फिर भी कृष्ण विषयक जो कुछ हम जानना चाहते हैं वह हमको इन्हीं दोनों ग्रंन्थों से विदित हो सकता है : (1) विष्णुपुराण (2) महाभारत । अतएव हमारे देशवासियों को चाहिए कि कृष्ण के चरित्र को जानने के लिए इन दोनों पुस्तकों का ध्यानपूर्वक

अध्ययन करें और फिर निष्पक्ष भाव से परिणाम निकालें कि क्या कवि की अत्युक्ति है और क्या वास्तविकता है।

(8) वास्तविक तथ्यों तथा मिलावट का बोध कैसे हो सकता है? हम सब इस बात को मानते हैं कि बौद्ध धर्म ने श्रीकृष्ण के पश्चात् जन्म लिया है। हिन्दू श्रीकृष्ण को द्वापर युग का अवतार मानते हैं और महाभारत की लड़ाई से कलियुग का आरम्भ बताते हैं। युरोपीय विद्वान प्राचीन तत्त्ववेता कृष्ण का समय हजरत मसीह से हजार वर्ष पहले ठहराते हैं। यह बात अनुसंधान द्वारा मालूम होती है कि महात्मा बुद्ध का जन्म हजरत मसीह से 500 सौ वर्ष पहले हुआ है। अतएव यह परिणाम निकलता है कि विष्णुपुराण और महाभारत में जहां जहां बौद्ध धर्म की शिक्षा के चिह्न पाये जाते हैं वे भाग (महाभारत के) बौद्ध काल के पश्चात् के हैं, अतः विश्वसनीय नहीं हो सकते। इस प्रकार संस्कृत साहित्य का अध्ययन हमें बताता है कि बौद्ध धर्म से पहले इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं थी और न मूर्तियों के लिए मंदिर बनाने की परिपाटी थी।

अतः यह कहना युक्तियुक्त ही है कि महाभारत और विष्णुपुराण के जिन भागों में मूर्तिपूजा और मंदिरों का वर्णन है वे पीछे से मिलाये हुए हैं। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म से पहले के साहित्य में ईश्वर के अवतार लेने का कहीं वर्णन नहीं है और न उस समय तक हिन्दुओं में (तसलीम) त्रिमूर्ति (विष्णु, शिव और ब्रह्म) की पूजा का प्रचार था, वरन् उस समय तक जाति के बंधन भी ऐसे प्रबल न थे जैसे कुछ काल पश्चात् हो गए। इन बातों का विचार करके विष्णुपुराण तथा महाभारत में से भी बहुत कुछ सत्य निकल सकता है। जाातिबंधन के विषय में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि स्वयं व्यास महाराज (जो महाभारत के रचयिता हैं) जन्म से शूद्र थे जिससे सिद्ध होता है कि एस समय (जब व्यास जी ने महाभारत लिखी है) जााति का कुछ अधिक विचार न था। यदि यह मान लें (जब व्यास जी ने महाभारत लिखी है) जााति का कुछ अधिक विचार न था। यदि यह मान लें (और इसके मानने में संकोच भी न होना चााहिए) तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रीकृष्ण का जन्म उस समय हुआ जब देश में वैदिक धर्म अपनी वास्तविक पवित्रता में था। जााति का विचार जन्म से न था। मनुष्यों को परमात्मा का पद नहीं मिलता था।

टवतारों की अभी उत्पत्ति नहीं हुई थी, मूर्तिपूजा का नाम–निशान नहीं था और हिन्दुओं की त्रिमूर्ति अभी स्थापित नहीं हुई थी। वैदिक कर्मकांड की प्रथा प्रचलित थी, बौद्ध धर्म का जन्म नहीं हुआ था, पर अनेक दर्शनों ने लोगों का विश्वास निर्बल कर दिया था और उन्हें धर्म से अश्रद्धा होने लग गई थी। इन बातों का सम्मुख रखकर और कवि वर्णित अलंकारादि का विचार करके यदि हम महाभारत तथा विष्णुपुराण में से कुछ यथार्थ बातें चाहें तो निष्फलता कदापि संभव नहीं। तथापि यह याद रखना चाहिए कि ये बातें बड़ी कठिनाई तथा अनुसंधान द्वारा मालूम हो सकती हैं, क्योंकि वास्तविक इतिहास का मिलना असंभव है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अब हम यह दिखलायेंगे कि क्या कृष्ण के जीवन–काल का निर्णय करना वास्तव में असंभव है या इसकी कुछ सम्भावना है।

(9) कृष्ण तथा महाभारत का समय – महाभारत के समय का निर्णय करना तनिक कठिन है क्योंकि उस समय का कोई यथाक्रम इतिहास मौजुद नहीं, परन्तू इस विषय में अनुसंधान द्वारा जो–जो बातें अब तक जानी गई हैं उन्हें हम पाठकों के सूचनार्थ लिखते हैं–

(अ) यह बात हिन्दुओं में साधारणतः प्रसिद्व है कि महाभारत के युद्व से कलियुग को आरम्भ हुआ है और कृष्ण का जन्म द्वापर में हुआ है। कलियुग को आरम्भ हुए लगभग 5000 वर्ष माने जाते हैं। गणितशास्त्र वाले भी कलियुग का आरम्भ 4996 वर्ष से निश्चय करते हैं।

(क) कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' का लेखक कल्हण लिखता है कि कलियुग के 653 वें वर्ष में गौड नामक राजा कश्मीर में वर्तमान था और युधिष्ठिर तथा कौरव बन में थे। गौड ने लगभग 65 वर्ष राज्य किया जिससे युधिष्ठिर का समय लगभग 2400 वर्ष मसीह से पूर्व स्थिर होता है अर्थात् आज से 4300 वर्ष होते हैं।

(ख) विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर का पोता परीक्षित राजा नंद से 1015 वर्ष पहले हुआ। पहला राजा नंद चंद्रगुप्त से 100 वर्ष पूर्व हुआ। चन्द्रगुप्त ने मसीह से 3015 वर्ष पहले राज्य पाया जिससे परीक्षित का समय 1430 वर्ष मसीह पूर्व स्थिर होता है।

(ग) एक दूसरे स्थान पर विष्णुपुराण का समय 1200 वर्ष कलियुगी ठहराता है जिससे परीक्षित का काल लगभग 1900 वर्ष मसीह पूर्व सिद्व होता है।

(घ) महाभारत के पढ़ने से विदित होता है कि जिस समय महाभारत की लड़ाई हुई थी उस समय सबसे छोटा दिन और सबसे बड़ी रात माघ महीनें में हुआ करती थी क्योंकि भीष्मपितामह सूर्य के (ख़ते उस्तवा) दक्षिण में चले जाने पर मृत्यु को प्राप्त हुए। परन्तू अब 24 दिसम्बर को सबसे बड़ी रात और सबसे छोटा दिन होता है। ज्योतिषविद्या के जानने वाले बताते हैं िकइस परिवर्तन को हुए कम से कम 3426 वर्ष हुए हैं जिससे यह परिणाम निकलता है कि महाभारत को भी 3426 वर्ष से कम नहीं हुए, अधिक चाहे कुछ और हों।

(च) ज्योतिषविद्या की सहायता से जो यह परिणाम निकलता है उसके विषय में मि. बाल गंगाधर तिलक ने ' ओरयिन' नामक अपने ग्रंथ में बहुत कुछ तर्क–वितर्क करने के पश्चात् लिखा है कि वह समय जब माघ मास में सूर्य उत्तरायण में होता था बहुत प्राचीन सिद्व होता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत साहित्य में महाभारत के प्रायः सभी वीरों का वर्णन आता है, जिससे युरोपीय पुरातत्वज्ञ सिद्व करते हैं कि महाभारत की असली लड़ाई इन ग्रंथों के रचे जाने से बहुत पहले हो चुकी थी।

(10) प्राचीन संस्कृत साहित्य में कृष्ण तथा अन्यय वीरों का वर्णन।

पाणिनि ऋषि कृत अष्टाध्यायी के सूत्रों में युधिष्ठिर, कुन्ती तथा वासुदेव और अर्जुन के नाम आते हैं जैसे आठवें अध्याय के तीसरे पाद के 95 वें सूत्र में युधिष्ठिर (शब्द) आया है। इसी प्रकार चौथे अध्याय के पहले पाद के 174 वें सूत्र में कुन्ती शब्द का प्रयोग हुआ है फिर इसी अध्याय के तीसरे पाद के 98 वें सूत्र में वासुदेव तथा अर्जुन का नाम आता है।

प्रोफेसर गोल्डस्टकर की सम्मति है कि पााणिनि मुनि ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों से भी बहुत पहले हुए हैं। श्री स्वामी दयानंद की भी यही सम्पति है। ब्राह्मण ग्रंथों में ऐतरेय और शतपथ में परीक्षित और जनमेजय

का वर्णन आया है। जनमेजय पांडवों के प्रपोत्र का नाम था जिसके दरबार में प्रथम महाभारत सुनाई गई। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय आरण्यक में श्रीकृष्ण का नाम आता है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'देवकी के पुत्र कृष्ण' का वर्णन है। आश्वलायन गृह्य सूत्र में भी महाभारत के युद्व का वर्णन आया है। इसी तरह महर्षि पतंजलि के भाष्य में कई जगह आया है कि कृष्ण वासुदेव ने अपने मामा कंस को मारा, इत्यादि। यह भी याद रखना चाहिए कि छः दर्शनकारों में सबसे अन्तिम दर्शनकार व्यास हुए हैं। व्यास को वेदान्त दर्शन का कर्ता मानते हैं। अब इन बातों के रहते यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि महाभारत का युद्व कब हुआ, महाभारत ग्रंथ कब रचा गया और कौन–से व्यास ने उसको बनाया।

तथाति यह परिणाम निकला कि महाभारत के युद्व को बहुत काल बीता है और असल महाभारत ग्रंथ युद्व से कुछ काल पीछे लिख गया परन्तू कालान्तर में उसमें परिवर्तन होते रहे।यहां तक कि आज यह सब कुछ अस्पष्ट हो गया है और हमारे लिए महाभारत के युद्व तथा महाभारत नामक ग्रंथ के रचे जाने के समय का निर्णय करना भी असम्भव हो गया है।

यदि वास्तव में महाभारत का युद्व उपनिषद् तथा सूत्रों के समय से पहले हुआ और असल ग्रंथ भी उससे पहले बना तो फिर इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान महाभारत में जितनी बातें उस समय के धर्म से विरूद्व पाई जाती हैं वह सब कालांतर में मिला दी गई थी और वास्तविक ग्रंथकर्ता की लेखनी से नहीं निकली हैं।

(11) क्या यह कथा कल्पित है?

ब्हुत–से पुरातत्वज्ञों ने यह सम्मति स्थिर की है कि महाभारत की कथा कल्पित है और इसकी घटनाएं यथार्थ नहीं हैं। बहुत से विद्वान इस युद्व को तो यथार्थ पर उसके नायकों को कल्पित मानते हैं। हमारी राय में ये दोनों कथन मिथ्या हैं, जिसके प्रमाण ये है–

(1) कृष्ण और अर्जुन की वंशावली का पूरा–पूरा पता चलता है। उनके वंश में अनेक राजा–महाराजा हुए हैं जिन्होंने ऐतिहासिक समय में राज्य किया है।

(2) सारे संस्कृत साहित्य का प्रमाण उपर्युक्त कथन का खण्डन करता है। (जैसा कि हमने ऊपर वर्णन किया है)

(3) कथा और कथा से संबंध रखने वालों के नाम सर्वसाधारण में प्रसिद्व हैं तथा देश के उन प्रान्तों में भी विदित हैं जहां सहस्त्रों वर्ष से पढ़ने लिखने का चिन्ह नहीं पाया जाता । फिर कथा संबंधी पुरूषों के नाम से प्रायः स्थानों के भी नाम मिलते हैं। यदि नाम कल्पित होते तो ऐसा कदापि संभव न था।

(4) महाभारत कथा के जो अनेक संदर्भ संस्कृत में पाये जाते हैं उनसे भी कथा की बहुत–सी घटनाओं की पुष्टि होती है।

(5) यदि इस कथा को यथार्थ मानें तो कथा संबंधी नामों को कल्पित मानने का कोई विशेष कारण नहीं दीख पड़ता, तथा उसमें यह भी प्रश्न उठता है, कि यदि ये नाम कल्पित हैं तो कथा के यथार्थ नायकों के नाम क्या थे?

(6) कृष्ण को अवतार के तुल्य माना जाना इस बात की पुष्टि करता है कि कृष्ण किसी कल्पित व्यक्ति का नाम नहीं था।

(7) हमारे विपक्षी अपने इस कथन के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं देते। कोई ग्रंथाकार तो इस बात का सहारा लेते हैं कि प्राचीन आर्यावर्त में एक स्त्री के कई पति होने की प्रथा न थी एवं द्रोपदी का पांच पांडवों से विवाह करना एक अत्युक्ति है जो यथार्थ घटना नहीं है। परन्तू महाभारत के पढ़ने वालों को मालूम है कि ग्रंथकार ने इस घटना को अपवाद के रूप में वर्णन किया है और इसके लिए कारण विशेष दिखलाया है। पुनः ऐसे प्रबल प्रमाणों के उपस्थित रहते हुए कुछ महानुभावों की यह राय प्रमाणित नहीं कही जा सकती और न ही हम कृष्ण तथा अर्जुन पभुति नामों को कल्पित मान सकते हैं।

(12) क्या कृष्ण परमात्मा के अवतार थे?

इस पुस्तक में कृष्ण विषयक जो घटनाएं हमने एकत्र की हैं उनके पढ़ने से पाठकों को यह विदित हो जाएगा कि कृष्ण महाराज का अवतार मानना कहां तक सत्य है। हमारी राय है कि कृष्णचंद्र ने कभी स्वयं इस बात का दावा नहीं किया और न उनके समय में किसी ने उनको यह पदवी

ही दी। ये बातें नई गढ़न्त हैं और बौद्व समय के पश्चात् प्रचलित हुई हैं।

समस्त वैदिक साहित्य अवतार सिद्वान्त के विरूद्व है। वेद पुकार–पुकारकर कहता है कि परमेश्वर कभी देह धारण नहीं करता । युरोपीय विद्वान भी इस बात में हमसे सहमत हैं और कहते हैं कि अवतारों का सिद्वात बौद्वमत के पश्चात् प्रचलित हुआ। इससे पहले भारतवर्ष में मूर्तिपूजा या अवतारों के सिद्वातं को मानने वाला कोई नहीं था। हम इस पुस्तक के अन्तिम भाग में इस बात पर विचार करेंगे कि कृष्ण का चरित हमारे इस मन्तव्य की कहां तक पुष्टि करता है तथा पाठक भी इसके अध्ययन से उपयुक्त सम्मति स्थिर कर सकेंगे।

सह्रदय पाठक! हम इन पृष्ठों में आपके सम्मुख एक महापुरूष का जीवन पेश करते हैं। श्रीकृष्ण यद्यपि अवतार न थे, परन्तू मनुष्यों की सूची में ऐसे श्रेष्ठतम आचरण के मनुष्य थे जिनको संस्कृत विद्वानों ने मर्यादा पुरूषोतम' की पदवी दी है। वह अपने समय के महान शिक्षक थे, योद्वा तथा विद्यासम्पन्न थे। उनकी जीवनी हमारे लिए आदर्श रूप में है। हम उनकी शिक्षा से बहुत–से लाभ उठा सकते हैं। हमारी में आधुनिक छात्रमंडली को उनकी जीवनी ध्यानपूर्वक पढ़नी चाहिए, क्योंकि यूरोप का नास्तिक दर्शन बहुत–से हिन्दू युवकों के चित्त को चलायमान करके उनको हिन्दू धर्म के यथार्थ तत्व से पराड़्मुख कर रहा है और इनके दल के दल यूरोपीयन जीवन–दर्शन के पीछे भागे जा रहें है। उनकी दृष्टि में अच्छे स्वादिष्ट पकवान खाने, सुन्दर वस्त्र आभूषण पहनने तथा फैशनेबल सवारियों में बैठकर सुख भोग से दिन काटने के अतिरिक्त जीवन का कुछ और उद्देश्य नहीं। आत्मा को वे कोई चीज नहीं समझते, धर्म को वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं तथा यावत् सांसरिक आपत्तियों को इसी का कारण समझते हैं। वे इसी में भारतवर्ष का हित समझते हैं कि इसका सर्वनाश कर दिया जाय और जनसाधारण के हितार्थ एक लोकपालित राज्य स्थापित करके एक 'कामनवेल्थ' खड़ा किया जाय जिसमें कोई किसी से यह न पूछे कि तेरा धर्म क्या है? और तू कोई धर्म रखता है या नही? उनकी सम्मति में धर्म संबंधी सब पुस्तकें समुद्र में फेंक दी जाएं तथा धर्मसभाओं को देशनिकाला दे दिया जाय। उनकी राय है कि ऐसा न करने से देश का

उद्धार नहीं हो सकता। भारतवर्ष का राजनीतिक हित भी इस पर निर्भर है कि किसी को दूसरे के आचरण पर प्रश्न करने का अधिकार न हो। हर एक मनुष्य को पूरी स्वाधीनता हो कि जो चाहे खाए, पीए और जो चाहे सो करे। वे यही चाहते हैं कि केवल शासन में उन्हें भाग मिल जाए और बड़े बड़े पद भी उन्हें मिलने लगें। सरकार उनसे सलाह लेने लग जाये, टैक्स लगाने और उठाने में उनकी पूछ हो और उन्हें हर प्रकार के धार्मिक या सामाजिक बंधन से छुटकारा मिल जाय। हिन्दू युवकों की एक मंडली आजकल इसी सिद्वातं को मानने वाली हो रही है। परन्तू दूसरी ओर जिस मंडली को आध्यत्मिक उन्नति का ध्यान है, जिसको धार्मिक शिक्षा या धार्मिक दर्शन से घृणा नहीं, वे वैराग्य, वेदान्त, योग और संन्यास को ही अपना मंतव्य समझते हैं। उनके विचार में यह संसार स्वप्नवत् और सांसरिक सुख अब घृणित वस्तु हैं। उन्हें सांसारकि उन्नति की परवाह नहीं, वह अपनी धुन में एकदम ब्रह्य या एकदम परमयोगी बनने के अभिलाषी दीख पड़ते हैं। उनकी समझ में वे लोग पागल हैं जो आत्मोन्नति को छोड़कर भौतिक उन्नति के तत्पर हो रहे हैं। आजकल नवशिक्षित मंडली साधारणतः इन्हीं दो में से एक मत की अनुयायी हो रही है। परन्तू इनके अतिरिक्त बीच का एक और दल है, जिसे उपर्युक्त दोनों मंडलियां तुच्छ दृष्टि से देखती है। यह दल चाहता है कि हिन्दू अपने प्राचीन शास्त्रोक्त धर्म पर स्थिर होकर उसी धार्मिक शिक्षा के अनुसार उन्नति करें। यह शिक्षित मंडली जैसे एक ओर जााति को नवीन वेदान्त तथा वैराग्य करें। यह शिक्षित मंडली जैसे एक ओर जााति को नवीन वेदान्त तथा वैराग्य से बचाने का प्रयत्न करती है वैसे ही दूसरी ओर यूरोप के भौतिक दर्शन से बचने की चेतावनी भी देती है, परन्तू मनुष्य में यह दोष है ि कवह सदा अति की ओर झुकता है, जिसे संस्कृत में अति दोष कहते हैं। हमारी जाति में यह दोष इस समय प्रबल हो रहा है और इसी से हमारे नवशिक्षित युवकगण अपने आचरण को मध्यम श्रेणी में नहीं रख सकते। ऐसे मनुष्यों के लिए श्रीकृष्ण की जीवनी तथा उनका दर्शन बड़ा उपयोगी और लाभकारी होगा। परन्तू खेद है कि गीता और महाभारत को पढ़कर लोग कृष्ण की शिक्षा के भाव को समझने में गलती करते हैं। उससे वैराग्य, योग तथा नवीन वेदान्त की सिद्वि करके लोक–परलोक को

लात मार, बाल बच्चों को छोड़ वस्त्र रंगा लेते हैं। हाय! वह यह नहीं समझते कि जिस कृष्ण ने अर्जुन को लड़ने पर तत्पर किया, जिसने लड़ाई की समाप्ति पर युधिष्ठिर (उसकी इच्छा के प्रतिकूल) को राज्य करने पर मजबूर किया, जिसने स्वयं विवाह किया और बाल बच्चे उत्पन्न किये और अपने जीवन का अधिकांश भाग सांसरिक व्यवसाय में व्यतीत किया, जिसने अपने शत्रुओं से बदला लिया, जिसने दुष्ट पापात्माओं का नाश किया और जिसने दीन दुखियों की सहायता की, जो स्वयं संसार में रहकर सांसारिक धर्म का पालन करता हुआ उत्तम श्रेणी की आत्मोन्नति को प्राप्त हुआ था, उसकी शिक्षा से हम कैसे यह भावार्थ निकाल सकते हैं कि हमारे लिए यही कल्याणकारी है कि हम अपने बाल बच्चों तथा माता पिता को त्यागकर वन में चले जायें या अपना सांसारिक धर्म पालन किये बिना योगसाधन में लग जायें? कृष्ण की शिक्षा का एकमात्र सारांश यह है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य को (चाहे वे सांसारिक हों या धार्मिक) सच्चाई, दृढ़ता तथा शुद्वचारण से पालन करे। इसी से उसे सत्य ज्ञान मिलेगा। इसी से परम मोक्ष भी प्राप्त होगा। कृष्ण ने युद्व–क्षेत्र में बैठकर अर्जुन के लिए यह बात परम कर्त्तव्य ठहराई कि वह अपने क्षात्रधर्म के पालन हेतू अपने हाथों से लाखों जीवों का वध करे, वरंच प्रयोजन पड़ने पर अपने वंश वालों का भी शिर छेदन करें। उसने अपने हाथों से बहुत–सी लड़ाइयों में शस्त्र चलाये और रक्त बहाया। ऐसा व्यक्ति क्या इस बात की शिक्षा दे सकता है कि बीसवीं शताब्दी के पतित हिन्दू (जो अपने कर्म से न पूर्ण ब्रह्यण हैं और न पूर्ण क्षत्रिय) अपने बाल बच्चों को अनाथ छोड़ और जातीय कर्त्तव्य का पालन किए, योगसाधन में तत्पर हो जायें तथा स्वयं ब्रह्य बनने की उत्कृष्ट कामना में वन का रास्ता लें? कृष्ण की शिक्षा के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि जब तक उसे ब्रह्यण पदवी का अधिकार प्राप्त न हो तब तक वह अपने शत्रुओं के साथ युद्व करे। यदि धर्म, कर्म, न्याय, सत्यता, इत्यादि के लिए दूसरों के सर कुचलने का अवसर आ पड़े तो अपनी जान जोखिम में डालकर भी उससे

मुख न मोड़े ।हम कर्त्तव्यों के पालन करने में मिथ्या दया या वैराग्य को पास तक न फटकने दें। यदि प्रत्येक पीड़ित मनुष्य अपनी पीड़ा के हेतू दया का भाव दिखावे और वैराग्य को काम में लावें, तो एक दिन संसार से न्याय बिल्कूल ही उठ जाएगा। ऐसे अवसर पर दया या वैराग्य का भाव दिखाना एक प्रकार की कायरता है। ऐसे अवसर पर किसी का यह कहना कि जब कुछ न बन पड़ा तो वैराग्य का आश्रय ले लिया, बहुत उचित जान पड़ता है। प्रायः लोग ईसाई धर्म की इसीलिए प्रशंसा करते हैं कि यदि कोई तेरे एक गाल पर तमाचा मारे तो दूसरा भी उसकी ओर फेर दे, किन्तू उनसे पूछो ि कइस पर कभी किसी ने अमल भी किया है अथवा स्वयं ईसाई मतावलम्बी भी इसका कहां तक आचरण करते हैं? प्रकृति इसके विरूद्व शिक्षा देती है। ये बातें केवल कहने की हैं, कोई सामर्थ्य वाला पुरूष इस कायरता की क्रिया में नहीं जा सकता। जो लोग कृष्ण की शिक्षा पर अनुचित समालोचना करके उसको महाभारत के युद्व तथा उससे जो हानि पहुंची है उसका उत्तरदाता ठहराते हैं, वे तनिक विचारें तो सही कि उनके दर्शन का क्या अर्थ है। यदि उनके घर में कोई चोर या डाकू आ घुसे, तो क्या वे इस अवसर पर दया का भाव दिखावेंगे, या कोई विचारशील दयावान उस चोर को अपना माल ले जाने की आज्ञा देगा, अथवा स्वहित का विचार कार उस व्यवहार विरूद्व कार्य के लिए उसे हानि पहुंचाने में तत्पर हो जाएगा? क्या धर्म की यही आज्ञा थी कि अर्जुन रणक्षेत्र में भाग खड़ा होता और इस प्रकार उन सब कर्त्तव्य पर पानी फेर देता, जिन पर आशा करके युधिष्ठिर तथा अन्य महाराज सेना सहित सम्मिलित हुए थे? क्या उस समय कृष्ण काा यही कर्त्तव्य था कि अर्जुन को भागता देख खुद भी उसके साथ भाग जाते? हम नहीं समझते कि जो लाग कृष्ण की इस प्रकार की अयोग्य आलोचना करते हैं वे धर्म के रक्षक या प्रचारक कैसे कहला सकते हैं। उनका धर्म केवल मौखिक है। या नहीं। उन्हें इसी से मतलब है कि उनका व्याख्यान सूनने वालों को वह रसपूर्ण प्रतीत हो। हमारा तो विश्वास है कि दया तथा वैराग्य के इस झूठे विचार ने ही हिन्दूओं का सर्वनाश कर दिया

और उनकी श्रेष्ठता को मिट्टी में मिला दिया। न उनको इस लोक का छोड़ा न परलोक का यदि अब भी भारतवासी इन विश्वासों के पंजे से निकलना न चाहें जबकि आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा तथा गीता उनको इस बात की शिक्षा देती है, तो ऐसी हालत में उनकी उन्नति का विचार एक भ्रम ही है जिसका पूरा होना कदापि संभव नहीं। इन बातों पर विश्वास रखने वाले न लौकिक उन्नति कर सकते हैं न पारलौकिक। कारण कि आध्यात्मिक संसार में भी उसी की पहुंच है जो मनुष्य उस लोक में हर परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आध्यात्मिक उन्नति के सोपान पर पैर रखता है। आध्यात्मिक संसार के लोगों की पहुंच नहीं हो सकती जो इस संसार के नियमों और परीक्षाओं पर लात मारते हैं, किन्तू सफलता उन्हें मिलती है जो नियमानुसार अनेक साधनाओं से अपनी आत्मा को इस योग्य बनाते हैं जिससे यह सद्विचार तथा पवितत्रा से उस परब्रह्य के चरण–कमलों में स्वयं को समर्पित करते हैं।

इन पृष्ठों में हम एक पवित्रात्मा महान् पुरूष का जीवन वृत्तान्त लिखते हैं जिसने अपने जीवन–काल में धर्म का पालन किया है और धर्म ही के अनुसार धर्म और न्याय के शत्रुओं का नाश किया है। रहा यह कि क्या कृष्ण ने अद्वैत की शिक्षा दी या द्वैत की शिक्षा दी या द्वैत की (अर्थात कृष्ण के मतानुसार आत्मा और परमात्मा एक है या भिन्न) यह ऐसा प्रश्न है जिस पर हम इस पुस्तक के दूसरे भाग में विचार करेंगे।

नवम्बर, 1900 ई.

–लाला लाजपतराय

पहला अध्याय

कृष्ण की जन्मभूमि

''यद्यपि वृन्दावन के कुंज में जहां किसी समय कृष्ण गोपियों के संग क्रीड़ा किया करते थे अब उनकी वंशी की गूंज सुनाई नहीं देती, यद्यपि यमुना की धारा प्रतिदिन गोरक्त से रंगी जाती है, तथापि यात्रियों के लिए वह भूमि अब भी पवित्र है। उसके लिए वह पवित्र जारडन के समान है जिसके तट पर बैठकर देशनिकाला दिया गया, इसराइल नबी की प्राचीन लड़ाइयों का स्मरण कर आसूं बहाता है।''—कर्नल टाड

समय के हेर फेर से, अंग्रेजी शिक्षा से तथा नवीन वासनाओं के उत्पन्न हो जाने से भारतवर्षीय शिक्षित मंडली के मानसिक भावों और विश्वासों में चाहे कितने ही परिवर्तन क्यों न हो, पर कौन—सा हिन्दू है जिसको गंगा और यमुना ये दोनों नाम प्यारे न मालूम होते हो? अथवा जिसके चित में इन दोनों नामों के मुंह में आते ही या कान में पड़ते ही किसी तरह का कोई भाव उत्पन्न न होता हो? प्यारी यमुना! क्या तू वही यमुना है जिसकी रेती में हमारे महान् पुरूष, वीर योद्धागण अपनी बाल्यावस्था में क्रीड़ा किया करते थे और जिसके तट पर कुछ बड़े होने पर उन्होंने धनुष—विद्या सीखी थी?

यमुने! क्या सचमुच तू वही नदी है जिसके जल ने अनाथ पांडवों के संतप्त ह्रदय को शान्ति दी थी और जिसके तट पर उन्होंने बड़े परिश्रम और चाहना से इन्द्रप्रस्थ बसाया था? यमुने! क्या वास्तव में तू वही यमुना है जिसके किनारे के वनों को पांडवों ने काट डाला था और उन पर अनेक नगरियां बसा दी थी जो बाद में आर्यों की वह राजधानी बनी जहां उनकी

राज्यपताका इतनी ऊंचाई से फहराती दीख पड़ती थी कि उसे सैकड़ों कोसों से देखकर उनके शत्रुओं का चित भी भयभीत हो जाता था? यमुने! क्या तेरी धारा वहीं धारा है जिसमें कृष्ण महाराज जलक्रीड़ा किया करते थे और जिसमें गर्भवती देवकी कृष्ण जैसे पराक्रमी महान् पुरूष को प्रसव करके स्नान् करने आती थी तथा स्नान करने के बाद परमात्मा से अपने बच्चे की रक्षार्थ करती थी? यमुने! ळमें तुझसे! ळमें तुझसे इन प्रश्नों के करने की इसलिए आवश्यकता हुई है, कि काल की कुटिलता ने तेरी दशा बदल दी, दुःख सहते–सहते तेरा हृदय विदीर्ण हो गया और नख से सिर तक तेरे अंग–प्रत्यंगों पर उदासी छा गई। तुर्कों ने तेरी छाती पर वह–वह मूंग दले कि उनके आघातों से छाती चलनी–सी हो गई है। तेरे तट पर भांति भांति के सुन्दर भवनों की जो पंक्तियां थी उनका आज कहीं चिन्ह भी नहीं बाकी रहा । जो किसी समय धन सम्पन्न तथा ऊंचे ऊंचे राजप्रसादों से सुशोभित होने के कारण इन्द्रापुरी कहलाती थी, उसकी आज जर्जर अवस्था देखकर आठ आठ आंसू रोना पड़ता है। केवल यही नहीं, वरन् दूर दूर से यात्रीगण तेरी पुरानी संपति को याद कर करके रोने के लिए अब भी उमड़े चले आते हैं। तेरे तट पर अब भी एक शहर बसा हुआ है जो हमको तेरी सारी पुराना बड़ाई का स्मरण दिलाता है और जिसके पुराने खंडहर उसके नवीन मन्दिरों के साथ मिलकर काल की कुटिल गति का संदेह प्रमाण दिखा रहे हैं।

सहृदय पाठक! आप समझ ही गए होंगे कि हमारा तात्पर्य मथुरा की नगरी से है, जो श्रीकृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण हिन्दुओं का एक महान् तीर्थ स्थान गिना जाता है। जिसकी स्तुति में हिन्दू कवियों ने अनेक कविताएं रच डाली हैं।

ऐसा कहते है कि महाराज रामचंद्र के समय में उस स्थान पर एक घना बन था जो एक जंगली राजा मधु के मरने के उपरान्त उसका पुत्र लवण महाराजा रामचंद्र से लड़ने के लिए तत्पर हुआ जिस पर शत्रुघ्न को उससे लड़ने को भेजा गया। लड़ाई को भेजा गया। लड़ाई में लवण मारा गया और महाराज शत्रुघ्न की जय हुई जिसके स्मारक रूप में उन्होंने इस स्थान पर मथुरा

नगरी बसाई। इसका मथुरा नाम क्यों पड़ा, यह प्रश्न ऐसा है जिसका उत्तर देना कठिन है। संभव है कि मधुपुरी से बिगड़कर मथुरा बन गया हो अथवा संस्कृत शब्द 'मथ' से यह कुछ संबंध रखता हो। 'मथ' शब्द के अर्थ मथने अर्थात् मक्खन निकालने के हैं। संभव है कि दूध, दही और मक्खन की बहुतायात से इसका नाम पड़ गया हो। जिन्दावस्था में मथुरा शब्द गोचर के लिए प्रयोग हुआ है फिर गोकुल, ब्रज और वृन्दावन ये सब नाम भी यही प्रकट करते हैं फिर गोकुल ,ब्रज और वृन्दावन ये नाम भी यही प्रकट करते हैं कि प्राचीन समय में इस प्रांत में बड़े बड़े बन थे जो अपने गोचरों तथा पशुओं के लिए प्रसिद्व थे और जहां दूध, दही तथा मक्खनादि बहुतायात से मिलता था।

ऐतिहासिक समय में सर्वप्रथम मथुरा का वर्णन महात्मा बुद्व के जीवनचरित्र में आया है जिससे प्रकट होता है कि उस समय भी यह शहर भारतवर्ष के दक्षिण प्रांत के प्रसिद्व शहरों में था। यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय भी इसे कोई धार्मिक श्रेष्ठता प्राप्त थी या नहीं, प्रायः बुद्वदेव के वहां व्याख्यान देने से विदित होता है कि यह शहर उस समय भी एक बड़ा केन्द्र होगा, क्योंकि महात्मा बुद्व विशेषतः ऐसे ही बड़े बड़े स्थानों में व्याख्यान दिया करते थे जहां लोगों की अधिक भीड़ भीड़ होती थी। मथुरा कई शताब्दियों तक बौद्व—शिक्षा का केन्द्र स्थल बना रहा।

इसके उपरान्त मथुरा का वर्णन युनानियों के संदर्भ में हुआ है और इसमें कुछ संदेह नहीं कि यूनानियों ने इस पर विजय प्राप्त की और कुछ काल तक मथुरा बैक्ट्रिया वंश के अधीन रही।

इसके पश्चात् फिर चीनी यात्री फाहियान के भ्रमणवृत्तान्त में मथुरा का वर्णन आता है। फाहियान 5वीं शताब्दी के आदि में यहां आया । उसने अपने भ्रमणवृत्तान्त में मथुरा का वर्णन किया। वह लिखता है कि उसकी राजधानी का भी यही नाम था। उसके कथनानुसार मथुरा में उस समय बौद्व मत का विशेष प्रचार था। अब छोटे बड़े उसी मत के अनुगामी हो रहे थे। शहर में उस समय 200 विहार (अर्थात् बौद्वों के धार्मिक मन्दिर) थे जिनमें 3 हजार बौद्व भिक्षुक रहते थे और सात स्तूप (मेमोरियल मीनार) थे फाहियान के 200 वर्ष पश्चात् एक और चीनी यात्री हुआनलिस्टांग यहां आया। वह भी मथुरा के विषय में लिखता है कि

मथुरा नगर का घेरा उस समय 4 कोस का था। यद्यपि विहारों की संख्या 200 ही थी पर उनमें रहने वाले भिक्षुकों की गिनती घटकर अब 2000 हो गई थी। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों ने भी 5 मंदिर बनवा लिए थे। स्तूपों की गिनती उस समय बहुत बढ़ गई थी। हुआनलिस्टांग के समय में बौद्व तथा पौराणिक धर्म में परस्पर विरोध फैल रहा था और वे एक दूसरे को दबाने की चेष्टा कर रहे थे जिसका परिणाम यह हुआ कि महाराज शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट की युक्तियों से बौद्व धर्म परास्त हुआ तथा पौराणिक मत की सारे भारतवर्ष में पुनः पताका फहराने लगी। महमूद अनुयायी हो गया था और मथुरा हिन्दुओं का तीर्थस्थान बन चुका था। महमूद गजनवी ने मथुरा को सन् 1017 में लूटा और मन्दिरों का विध्वंस किया। वहां के सबसे बड़े मंदिर के विषय में उसने अपने नायाब को पत्र में लिखा, ''यदि कोई मनुष्य ऐसा मकान बनाना चाहे तो बिना एक करोड़ दीनार के नहीं तैयार कर सकते।'' इतना लिखकर ये हजरत अहंकारपूर्वक लिखते हैं, ''20 दिन तक शहर को लूटा गया और महमूद को तीन करोड़ का द्रव्य हाथ आया। 'तारीख यमीनी' का लेखक लिखता है कि इस मंदिर की प्रशंसा न लिखने से हो सकती है और न चित्र खीचंने से । इस दुष्ट के आक्रमण के बाद मुसलमानों के राज्य में मथुरा नगरी फिर कभी पूरी दीप्तिमान् अवस्था को प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि यहां के लोगों को सदा यही भय लगा रहा कि कहीं फिर मुसलमानों को इसे लूटने का विचार पैदा न हो जाय। पर मुसलमानों का इतिहास स्वयं इस बात की साक्षी दे रहा है कि उनके समय में मथुरा अनेक बार धार्मिक पक्षपात का शिकार बन चुका है। 'तारीख दाऊदी' का लेखक लिखता है कि सिकंदर लोधी ने मथुरा के सब मंदिरों को नष्ट कर दिया और मंदिरों से सरायों और मुसलमानी पाठशालाओं का काम लिया। मूर्तिया को कसाइयों को सौंप दिया जिसने वह मांस तोला करें और मथुरा के हिन्दुओं को शेर और दाढ़ी मुंड़ाने या किसी अन्य प्रकार से पिण्ड –तर्पण कराने को भी मना कर दिया।

सिंकदर लोधी के पश्चात् जहांगीर के समय तक मथुरा ने पुनः चैन की सांस ली, परन्तू फिर औरंगजेब का आक्रमण हुआ। सन् 1669 ई. में औरंगजेब ने मथुरा पर आक्रमण किया और केशवदेव के बड़े भारी मंदिर को गिरवाकर ही लौटा। इसी अवसर पर मथुरा का नाम इस्लामाबाद या इस्लामपुर रखा गया। इस मंदिर पर 33 लाख की लागत आई थी। इस मंदिर की मूर्तिया नवाब कुदसिया बेगम की मस्जिद (जो आगरे में है) की सीढ़िया दबा दी गई ताकि वे प्रत्येक आने जाने वाले के नीचे आवें और मंदिर की जगह एक बड़ी भारी मस्जिद तैयार की गई जो अब तक बनी हुई है। इस मंदिर का नीचे का चबूतरा 286X268 फुट था। अन्ततः मुसलमानी अत्याचार का समय बीता और औरंगजेब के मरते ही हिन्दुओं का भाग्य फिर जगा! मथुरा प्रांत पर जाटों ने अधिकार जमाया और वे अंग्रेजी राज से लड़ते भिड़ते इस प्रांत के कुछ न कुछ को अपने अधीन बनाये रहे। मथुरा की वर्तमान इमारतें इसी समय की बनी हुई हैं। इन इमारतों की बनावट ऐसी उत्तम है कि ये भारतवर्ष की दर्शनीय इमारतों में गिनी जाती है। हम अन्य इमारतों को छोड़कर केवल उन्हीं इमारतों का यहां उल्लेख करेंगे जिनका कृष्ण की जीवनी से कुछ संबंध है।

(1) केशवदेव के नवीन मंदिर के निकट एक जलाशय है जो पोतड़ा कुंड कहा जाता है, जिसमें कृष्ण महाराज के पोतड़े धोए जाते थे।

(2) इसी जलाशय के तट पर एक कोठरी है जो 'कारागृह' के नाम से प्रसिद्व है, जिसमें वासुदेव और देवकी बंदी बनाकर रखे गये थे। यही कोठरी है जहां पुराणों के अनुसार कृष्ण ने जन्म लिया।

(3) यमुना के सब घाटों में विश्रामघाट प्रसिद्व है। इसके विषय में किवदंती है, कि कंस का वध करके कृष्ण और बलराम ने यहां विश्राम किया था। इस घाट की इमारतें दर्शनीय हैं।

(4) योग घाट उस स्थान का नाम है जहां कहते हैं कि कंस ने नंद और यशोदा की सद्योजात बालिका योगनिद्रा को (जो देवकी के साथ लेटी हुई थी) देवकी की संतान समझकर जमीन पर दे मारा और वहां से वह देवी का रूप धारण करके आकाश मार्ग में चली गई।

(5) 'कुब्जा कुआ' नामक स्थान पर वृन्दावन से लौटते समय

कृष्ण ने एक कुबड़ी की कमर सीधी कर दी थी। इसे एक चमत्कार माना जाता है।

(6) इसी प्रकार रणभूमि वह स्थान है जहां कृष्ण व बलराम ने कंस के पहलवानों से युद्व करके उन्हें पराजित किया था।

(7) यमुना–तट पर दो छोटे ग्राम है जिनमें से एक का नाम अब तक 'गोकुल' और दूसरे का 'महावन' है। किवदंती है कि कृष्ण महाराज को पालन–पोषण के लिए जिस नंद गोप के हवाले किया गया था वह यहीं का रहने वाला था। अब कृष्ण संबंधी जो मकान गोकुल में दिखाये जाते हैं वे महावन में हैं जो वर्तमान गोकुल से कुछ दूरी पर बसा हुआ है। जिस घाट पर जन्म की रात्रि के समय कृष्णचंद्र नंद के हवाले किये गये उसे 'उत्तर घाट' कहते हैं। इनके अतिरिक्त वे स्थान भी दिखाये जाते हैं जहां गोकुल में रहकर कृष्ण के जीवन काल की दूसरी घटनाएं हुई हैं। गोकुल और महावन दोनों स्थान पवित्र गिने जाते हैं, जिनमें से गोकुल नदी के तट पर है और उसमें बड़े बड़े मंदिर बने हुए है। महावन के निकट शाहजहां के समय तक बहुत बड़ा वन था जहां शाहजहां प्रायः शिकार खेलने आया करता था।

गोकुल आजकल एक बड़ा कस्बा है, जो वल्लभाचारी सम्प्रदाय की जन्मभूमि होने से इस दशा को जो प्राप्त हुआ है। इस सम्प्रदाय की ओट में ऐसा व्यभिचार होता है जिसे लेखनी लिखते हुए लजाती है।

(8) मथुरा से 6 मील ऊपर तीन ओर प्यारी यमुना से घिरा हुआ द्वीपाकर वृन्दावन का कस्बा बसा हुआ है जहां कृष्ण ने बचपन के कई वर्ष व्यतीत किये। संस्कृत में वृन्दा, तुलसी के पेड़ को कहते हैं इसलिए यह अनुमान होता है कि इस बन में कभी तुलसी के पेड़ बहुत रहे होंगे जिससे इसका नाम वृन्दावन पड़ गया। अरन्तू, इस नाम का चाहे कुछ और ही कारण क्यों न हो, परन्तू अब तो यह नाम ऐसा प्रसिद्व तथा चिरस्थायी हो गया कि जब तक कृष्ण का नाम जीवित रहेगा तब तक वह नाम हिन्दुओं के लिए पूजनीय बना रहेगा।

तीन ओर यमुना की लहरें और उसके किनारे किनारे सुन्दर तथा ऊंचे मंदिरों की पंक्ति, यह एक ऐसा दृश्य है जिसे देखकर प्रत्येक मनुष्य

प्रकृति और मनुष्यकृत शोभा के मेल से अपने चित्त को हर्षित कर सकता है। वृन्दावन में सं. 1880 में 32 घाट और लगभग 1000 मंदिर थे। वृन्दावन वैष्णव सम्प्रदाय का मुख्य स्थान तथा राधावल्लभियों की जन्मभूमि हैं

(9) इस अध्याय को समाप्त करने के पहले कुछ और स्थानों का विवरण देना हम आवश्यक समझते हैं।

व्रजमंडल—मथुरा का निकटस्थ प्रदेश जो 42 मील की चौड़ाई में बसा है उसे व्रजमंडल कहते हैं। कृष्ण मत के मानने वाले इस सारे प्रान्त की यात्रा करते हैं। इस यात्रा को 'वनयात्रा' कहते हैं। व्रज का अर्थ पशुओं के खेड़े से है जैसे गोकुल का अर्थ गऊओं से है। यह यात्रा भाद्रमद मास में कृष्णचंद्र के जन्मदिन के उत्सव से आरम्भ होती है। यात्री गण मथुरा से यात्रा प्रारम्भ करते हैं और सारे ब्रजमंडल के मंदिरों, वनों तथा घाटों की फेरी करते हुए गोकुल, वृन्दावन इत्यादि स्थानों में होकर फिर मथुरा में लौट आते हैं। हम स्थानान्तर में सिद्व करेंगे कि यह वनयात्रा तथा रासलीला आदि प्राचीन काल की नहीं हैं। इन्हें पौराणिक समय के स्वार्थी पुजारियों तथा ब्राह्मणों ने अपनी जीविका के लिए रचा है।

खेद है कि कृष्ण महाराज की जन्मभूमि में इन्हीं के नाम पर उन्हीं पर विश्वास रखने वाले ऐसा अत्याचार करें जिसे देखकर कौन—सा विचारवान् पुरूष है जिसका ह्रदय कांप न उठता हो, या जिसके अन्तःकरण से एक बार दीर्घ निश्वास न निकलता हो। कुटिल काल! तूने बड़ी अनीति मचा रखी है। और तो सब अनर्थ किया ही था, स्वतंत्रता छीनी, धन छीना, हीरे—जवाहर तक लूटे, संसार की सबसे बलवान् तथा सम्पन्न जााति को भिखारी बना दिया, धार्मिक से अधर्मयुक्त किया, विद्या और विज्ञान, कला और कौशल सब कुछ ले लिया, पर हमारे पूज्य महापुरूषों के पवित्र जीवनों को तो अकलंकित छोड़ देता। हाय, तूने उनके नाम और यश को भी नष्ट कर मृतक बना छोड़ा, जिनके नाम से हमारी मृतक जाति अब तक अपने को जीवित समझती थी और जिनका श्रेष्ठ नाम लेने से हमें फिर श्रेष्ठता की आशा होती थी।

दूसरा अध्याय

श्रीकृष्णचन्द्र का वंश

श्रीकृष्णचन्द्र महाराज मातृपक्ष से चन्द्रवंशी यादव क्षत्रियों के नाती थे और पैतृक दृष्टि से सूर्यवंशी क्षत्रियों के वंश से थे। निम्नलिखित वंशावली से उन दोनों प्रसिद्व क्षत्रिय वंशों से उनका संबंध भली–भांति प्रकट हो जाएगा।

इक्ष्वाकु से बहुत पीढ़ियों पश्चात् उसके वंश्ज्ञ में एक राजा हर्यश्व नामक हुआ है जिसने अयोध्या से निकाले जाने पर गोवर्धन की नींव डाली। उस समय मधुबन प्रान्त पर राजा शासन करता था जिसने अपनी कन्या मधुवृक्ष पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता हैः

वंशवृक्ष

(पैतृक पक्ष)

हर्यश्व और मधुमती

माधव

भीम

अन्धक

रैवत

विश्वगर्भ

वसु या शूर

वसुदेव	कुन्ती	सुपरिहया
	पांडु की स्त्री	माता शिशुपाल
	(युधिष्ठिर,अर्जुन	(चेदि देश का राजा)
	व भीम की माता)	

देवकी से	रोहिणी से
कृष्ण	बलराम

माता की ओर से कृष्ण का वंश निम्नलिखित हैः

नहुष

ययाति

यादव

विदर्भ

अंधक

आहुक

उग्रसेन		देवक
(राजा मथुरा)	पति वसुदेव	देवकी
कंस		कृष्ण
(जिसका विवाह महाराज		रूकमणी स्त्री
जरासंध (राजा मगध) की	प्रद्युम्न	
पुत्री से हुआ)	अनिरूद्ध	

कृष्ण के जन्म के समय यादवों की गद्दी पर उग्रसेन का पुत्र कंस विराजमान था जो अपने पिता को सिंहासन से उतारकर स्वयं गद्दी पर बैठा था। कंस जरासंध का दामाद था। यह जरासंध मगध देश का राजा और अपने समय का बड़ा प्रतापी था। इसी की सहायता से कंस अपने पूज्य पिता को जीते जी राज्य से च्युत करके स्वयं राजा बन गया और औरंगजेब की भांति इसने पिता को बंदीगृह का मुंह नहीं दिखलाया।

कंस अपने समय का ऐसा कृतघ्न तथा अतयाचारी राजा था कि उससे उसके अपने–पराये सब तंग थे और उससे छुटकारा पाने हेतू उसकी प्रजा परमात्मा से सदा प्रार्थना करती थी। उसके निंदनीय कार्यों में से पहला तो यही था कि उसने अपने पूज्य पिता का ऐसा अपमान किया और इस कुत्सित कार्य से अपने वंश को कलंकित किया। सत्य है, योग्य के पुत्र सदा योग्य नहीं हुआ करते। ऐसे ही कपूत ने अपने वंश को कलंकित किया। सत्य है, योग्य के पुत्र सदा योग्य नहीं हुआ करते। ऐसे ही कपूत अपने वंश की मान मर्यादा को मिट्टी में मिला देते हैं। कंस का वृद्ध पिता उसके बुरे आचरण को देखकर भीतर ही भीतर कुढ़ा करता था। पैतृक स्नेह तथा वंश की कुलीनता के कारण किसी में इतनी हिम्मत नहीं थी कि सबल वृक्ष की इस शाखा को तोड़ डाले और वृक्ष को इसके बुरे प्रभावों से बचाये। पर यह कब सम्भव था कि ऐसे अन्यायी की अनीतियां निंरतर बढ़ती जायें और परमात्मा की ओर से उसकी कुछ सुध न ली जाये।

वह अपने निन्दनीय कर्मों से कब तक परमात्मा की सृष्टि को तंग कर सकता था। पालन पोषणकर्ता परमेश्वर भी उसके अत्याचारों का फल उसको देने वाला था। उसके अत्याचारों का अंत अब निकट पहुंच गया था। उस जगत्पिता ने मुक्त आत्माओं में से एक को फिर जन्म दिया जिससे उसके द्वारा संसार में फिर धर्म और न्याय का राज्य स्थापित हो और जन–साधारण में वह एक आदर्श स्वरूप बन जाये।

इधर पिताद्रोही कंस को भी लगने लगा कि मेरे पापों का परिणाम

अब मुझे शीघ्र मिलेगा। उसके अन्तःकरण से आवाज आई, ''उठ; अब भी अपने आचरणों को सुधारने तथा सुपथ पर आने का समय है। अधर्म और पाप का साथ छोड़। पूर्वजों के यश को जो तूने कलंकित किया है धब्बे को मिटाने का यत्न कर।'' पर जो आत्माएं पाप करने में अभ्यस्त हो जाती हैं उनके लिए ऐसी ध्वनि किसी काम की नहीं होती। वे भयभीत होने पर भी और घोर पापों के करने में उद्यत होती हैं। उस समय तक उनके पाप बढ़ते जाते हैं जब तक उन्हें परमात्मा की ओर से समुचित दंड प्रत्यक्ष्ज्ञ नहीं मिल जाता ।

तीसरा अध्याय

श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म

विष्णुपुराण में लिखा है कि जब देवकी का विवाह वसुदेव से हो चुका और वधु को वर के घर पहुंचाने के लिए रथ पर सवार कराया गया तो कंस उसके सारथी बने। चलते चलते आकाशवाणी हुई, ''रे मूर्ख', तू किस भ्रम में पड़ा है। जिस लड़की को तू रथ पर बैठाकर उसके श्वसुर के घर ले चला है उसी के उदर से एक पुत्र उत्पन्न होगा जिसके हाथ से तू मारा जाएगा। यह बात कंस को आकाशवाणी अथवा किसी योगी पुरूष के मुख से विदित हो गई कि यदि मुझे अपने राजपाट में कुछ आंशका हो सकती है तो वह इस लड़की की संतान से ही, क्योंकि उसके दादा की संतान में से और कोई उसके स्वत्व में टांग अड़ाने वाला नहीं था। इस विचार के उत्पन्न होते ही उसकी पापिष्ठ आत्मा बड़ी बेचैन हुई। उसे अपनी मुत्यु चारों और आखों के सामने दीख पड़ने लगी। अब इसके अतिरिक्त उसे और कुछ न सूझा कि उस अज्ञान बालिका का अंत कर दिया जाय जिससे उसकी ओर से कुछ शंका न रहे।

सत्य है, पापी अपने को बहुत बलवान् और कठोर ह्रदय समझता है, पर वास्तव में उसका अभ्यन्तर पापों से खोखला होकर बलहीन हो जाता है। तनिक भय या उसकी छाया उसे भयभीत तथा शान्तिरहित कर देती है। उसके सारे पाप और सारी अनीतियां संदेह उसके सामने आ खड़ी होती हैं और नाना प्रकार से उसको डराने लगती हैं। वे आत्माएं जिन्होंने उससे

किसी प्रकार की पीड़ा पाई है, भयानक रूप धारण कर उसके नेत्रों के सामने आ विराजती हैं और सोते जागते उसे भय दिलाती हैं। उसकी अवस्था उस चोर के समान हो जाती है जो अपनी परछाई से डर उठता है या तनिक सा खटका पाकर कांपने लगता है। आगे चलकर पुराण लेखक लिखता है, 'कंस के चित्त में यह भाव उठते ही उसे विश्वास हो गया कि अब मेरा अन्त आ पहुंचा।'' मृत्यु से बचने के लिए उसने यह उपाय सोचा कि जैसे भी हो सके देवकी का वध कर देना चाहिए। यह विचार आते ही उसने रथ को रोक दिया। खड्ग ले देवकी की और लपका और चाहता था कि एक ही हाथ में उसका सिर धड़ से जुदा कर दें, पर वसुदेव ने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर उसे भगितिवध के पाप से बचाया।

कंस क्रोधान्ध होकर स्त्री पर वार करने को उठा था, पर जब चारों ओर से हाहाकार मच गया और उसकी निन्दा होने लगी तो उसे बड़ी ग्लानि हुई। उसने वसुदेव से यह प्रतिज्ञा करा ली ि कवह देवकी की होने वाली संतान को उसके हवाले कर दे। इसके बाद ही उसने स्त्रीवध का विचार त्यागा और देवकी सहित वसुदेव को अपने घर जाने की आज्ञा दी। इस विषय में सब पुराण एक मत हैं कि वसुदेव ने निज प्रतिज्ञा पालन में अपने इन छहों को एक एक कर मरवा डाला।

पर जब सातवीं बार देवकी ने गर्भ धारण किया तो पितृस्नेह के आगे उसका निज प्रतिज्ञा पालन का विचार डांवाडोल हो गया। किसी जााति या धर्म में इस बात की व्यवस्था नहीं है कि जो प्रतिज्ञा बलात् कराई जाये उसका उल्लघंन करने वाला पाप का भागी हो सकता हैं दुष्ट कंस ने देवकी के पुत्रों का वध तो करा ही डाला था, वसुदेव के दूसरे पुत्रों को भी (जो दूसरी स्त्रियों से थे) मरवा डाला।

क्या किसी लेखनी में शक्ति है कि उस पिता के अतिरिक्त संताप का चित्र खींच सके जिसके सम्मुख अपने ही बालकों का सिर काटा जाय! कौन पिता है जो ऐसी दशा में उनके प्राण की रक्षा की एक चेष्टा

न करेगा। बच्चों को स्वभाविक मृत्यु माता पिता के जीवन को कष्टप्रद बना देती है। बहुतेरे ऐसे हैं जो अपने बच्चे की अकाल मृत्यु के संताप में पिघल–पिघलकर जान गंवा देते हैं, या जीवन–भर शोकसागर में पड़े रहते हैं। पर यहां तो एक दो की कौन कहे, छः पुत्रों का उसके सामने वध हुआ। वसुदेव जी इस संताप से महादुःखी हो गए। इसको सहन करने की शक्ति समाप्त हो गई और उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि जैसे भी होगा अब इस दुष्ट के हाथ से अपने बच्चों को बचाऊंगा। इस सातवें गर्भ से बच्चा निकाल रोहिणी के गर्भ में डाल दिया (रोहिणी वसुदेव की दूसरी पत्नी का नाम है) और यह बात प्रकट की गई कि देवकी का गर्भ नष्ट हो गया। इस कथन से दो परिणाम निकाल सकते हैं।

एक यह कि देवकी का गर्भ छिपाया गया और रोहिणी का गर्भवती होना प्रसिद्व किया गया। रोहिणी गोकुल ग्राम में नंद के घर रखी गई और देवकी के बच्चा उत्पन्न हुआ तो उसको तत्काल रोहिणी की गोद में रख कर यह प्रसिद्व कर दिया गया कि देवकी का गर्भ नष्ट हो गया।

दूसरा यह कि वास्तव में बलराम, जो रोहणी के ही पुत्र थे और देवकी का का सातवां गर्भ भय, चिन्ता या किसी अन्य कारण से नष्ट हो गया था। इससे यह परिणाम निकला कि जिस सातवें बच्चें की इस प्रकार गुप्त रीति से रक्षा की गई, वह बलराम था।

देवकी सातवीं बार गर्भवती हुई इस पर तो पहले पहरा बैठता था, पर इस बारी पूरी रखवाली करने की आज्ञा हुई। एक सुरक्षित स्थान में बंद कर उन पर पहरा–चौकी बैठा दिया गया और ऐसा प्रबन्ध किया गया जिसमें किसी प्रकार से भी वह अपने बालक को न बचा सके। ऐसा मालूम होता है ि कइस बालक के वध के लिए कंस की ओर से जैसा उत्तम प्रबन्ध किया गया था वैसा ही दूसरे पक्ष वाले इसके बचाने में सन्नद्व थे।

इधर कंस ने पूरे तौर पर पहरा–चौकी बिठा दिया और ऐसा प्रबंध किया कि बच्चा किसी प्रकार बचने न पावे। उधर वसुदेव और उनके मित्रों ने बच्चे के बचाने के लिए पूरी पूरी युक्ति की, जिसका परिणाम

यह हुआ कि दुष्ट कंस की सारी युक्तियां निष्फल हुई और वसुदेव और उसके मित्र अपने यत्न में सफल हुए। जिस रात्रि में कृष्ण का जन्म हुआ उसी रात्रि को उन्हें राजमहल से निकालकर गोकुल पहुंचा दिया और वहां से नन्द की नवजात बालिका को लाकर देवकी के साथ शय्या पर लिटा दिया।

सारांश यह कि भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की आठवीं तिथि को मथुरा की राजधानी में कृष्णचन्द्र ने जन्म लिया। रात अंधेरी थी। मेंघों का भयंकर शब्द मानों पापियों का ह्रदय कम्पायमान कर रहा था। आंधी इतने वेग से चल रही थी। मानों वह पृथ्वी तल से इमारतों को उखाड़कर फेंक देगी और वर्षा ऐसी हो रही थी मानों वह प्रलय करके ही सांस लेगी। यमुना बाढ़ पर थी। जिस रात्रि को कृष्ण ने जन्म लिया वह रात्रि वास्तव में भंयकर थी क्योंकि प्रकृति देवी क्रोध से विकट रूप धारण किये हुए थी।

बच्चे के जन्म लेते ही वसुदेव उसे कपड़े में लपेट बड़ी सावधानी से महल से बाहर निकले। कहते हैं कि रात्रि को सारे पहरे वाले योगनिंद्रा से ऐसे मतवाले हो गये कि उन्हें इस बात की सुध न रही कि कौन महल से निकलता है और कौन अंदर जाता है। पर इसमें संदेह नहीं कि या तो पहरे वालों की असावधानी से वसुदेव को बाहर निकल आने का अवसर मिला अथवा पहरे वाले जान बुझकर वसुदेव का हित समझकर मचल गए हों। तात्पर्य यह कि वसुदेव कृष्ण को छिपाकर रनवास से बाहर निकल आये। यह समय आधी रात का था। बाहर निकलते ही शेषनाग ने अपने फण से कृष्ण पर छत्र लगा दिया और इस प्रकार उन्हें भीगने से बचा लिया। अब यमुना में पैर रखा तो आंधी बंद हो गई, आकाश मंडल स्वच्छ होने लगा और तारे चमकने लगे। नदी नालों के जल का वेग कुछ कम हो गया। झील तथा सरोवर में रंग बिरंगे पुष्प महकने लगे। जंगली वृक्षों में पुष्प लग गये और उन पर पक्षिगण किलोल करने लगे। देवता पुष्प वर्षा करने लगे। अप्सराएं नाचने

लगीं। सारांश यह कि सृष्टि मात्र में बधाइयां बनजे लगीं। कहां तो यमुना

का जल अथाह हो रहा था और कहां कृष्ण महाराज का पैर चूमते ही वह इतनी उतर उई कि वसुदेव उसमें से पैदल पार हो गए। दूसरे तट पर नंद बाट देख रहे थे। उन्होंने कृष्ण को ले लिया और अपनी लड़की को वसुदेव के हवाले किया।

कृष्णचन्द्र रातोंरात गोकुल में पहुंचा दिये गए। उनकी जगह यशोदा की लड़की देवकी के साथ लाकर लिटा दी गई। कंस को दूसरे दिन जब ज्ञात हुआ कि रात को देवकी के बालक जन्मा है तो वह तत्काल उठ खड़ा हुआ और सौर में चला गया। देवकी उसे देख रोने और विलाप करने लगी, पर उस दुष्ट ने एक न मानी और उस लड़की को (जो उसके साथ शय्या पर लेटी हुई थी) उठाकर पृथ्वी पर दे मारा।

दुष्ट कंस! पाप ने तेरी आंखों पर पट्टी बांध दी। सारी आर्य–मर्यादा को तूने मिट्टी में मिला दिया। इस अज्ञानी बालिका के वध से तुने अपने को महापाप का भागी बना लिया और यह न विचारा कि मृत्यु से कोई भी बच नहीं सकता। जिस राज्य के लिए तू ऐसे पाप कर रहा है वह क्षणिक है, पर ऐसे घोर पाप से तेरी आत्मा घोर अधोगति को प्राप्त होगी।

पाप से बढ़कर अंधा करने वाली दूसरी शक्ति जग्त में नहीं है। एक पाप को छिपाने के लिए मनुष्य को अनेक पाप करने पड़ते हैं। पाप बड़ा बली है। जो लोग पाप पर विजयी नहीं हो सकते, उनको सदा खटका बना रहता है। रस्सियां सांप बनकर उनको डसने दौड़ती हैं। सारा संसार उनको शत्रु दीख पड़ता है। जितना कोई सीधा तथा निष्कपट होता है उतना ही वह (पापी) उससे भय स्वयं उसी के बोझ से दबकर मर मिटता है।

पुराण का लेखक आगे लिखता है कि जब लड़की को उठाकर भूमि पर फेंक दिया तो वह तत्काल देवी का रूप धारण कर वायू में

अन्तर्धान हो गई और कंस खड़ा ही रह गया, पर उसे लगा कि या तो मेरे साथ धोखा किया गया या मैंने इस बालिका को वृथा मारा, अगमवाणी तो बालक के विषय में थी। चाहे कुछ हो पर उसने यादववंश के सारे बालकों के वध की आज्ञा दे दी। ढुंढ़ ढुंढ़कर राजकुमार मारे गये। बहुतेरे यादव–वृन्द देश छोड़कर चल दिए और बहुत दिनों तक यह मार मीट जारी रही।

चौथा अध्याय

बाल्यावस्थाः गोकुल ग्राम

हमने पिछला अध्याय श्रीकृष्ण को यशोदा की शय्या पर लेटा छोड़कर समाप्त किया था। पाठकों को इस बात के जानने की लालसा होगी कि यशोदा का पति नंद कौन था। पुराणों से पता लगता है कि यह एक जाति विशेष का सरदार था, जिसे पुराणों में गोप लिखा है। इस जाति विशेष निवास–स्थान नहीं था। अब भी भारतवर्ष में ऐसी जातियां हैं, जो किसी जगह टिककर नहीं रहती। वरन् अपने छकड़े और पशु लिए आज इस गांव में तो दो चार महीने बाद दूसरे गांव में चली जाती हैं। इनमें से कई जातियां पशु रखती हैं और दूध मक्खनादि बेचती हैं और कोई कोई दूसरा व्यवसाय भी करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के जन्म के समय कोई ऐसी ही जाति उस जंगल में (जो यमुना पार स्थित था) आकर ठहरी हुई थी, जहां वे अपने पशु चराते तथा दूध मक्खन बेचते थे। अतः श्रीकृष्ण के जन्म को गुप्त रखने के लिए किसी ऐसी जााति से सहायता लेना कुछ आधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है, क्योंकि वहां पर श्रीकृष्ण के जन्म के छिपाए जाने का बहुत कम संदेह हो सकता था। फिर कंस को भी यह शंका नहीं हो सकती थीथ्क इन रमते चारवाहों की मंडली में एक राजकुमार यों पाला जा रहा हैं हम ऊपद कह आए हैं कि वसुदेव जी के दूसरे पुत्र बलराम भी गोकुल पहुंचा दिए गये थे और वह भी

गोपियों के पास पालन हेतू रखे गए थे। इस प्रकार दोनों भाई–बलराम और कृष्ण को इकट्ठे रहने का अच्छा अवसर मिला। कृष्ण के बचपन के समय की बहुत–सी आश्चर्यजनक घटनाएं वर्णन की जाती हैं। उनको परमेश्वर का अवतार मानने वाले भक्तों ने उनके जीवन की सामान्य घटनाओं का भी ऐसी रंगीली भाषा में वर्णन किया है जो किसी विचारवान् के लिए कदापि विश्वश्नीय नहीं हो सकती। पर इनके भक्तों का तो यही आशय था।

सांसारिक सामान्य बातों के लिए अलौकिक शब्द प्रयोग नहीं हो सकते। अतः हर एक महापुरूष बहुत–सी ऐसी बातों का कर्ता वर्णन किया जाता है जो जनसाधारण की दुष्टि में आलौकिक तथा आश्चर्यजनक दीख पड़ती हैं। प्रत्येक महापुरूष के अनुयायी तथा भक्तों ने उसके बचपन की घटनाओं को इस प्रकार अलंकृत कर दिया है किवे लौकिक से अलौकिक हो जाती है, पर विचारवान् पुरूष अपनी विवेचना शक्ति द्वारा उन अलौकिक व्यवहारों में से भी कुछ न कुछ सत्य अवश्य निकाल लेता है। कृष्णचन्द्र ने अपने बचपन में गोकुल में रहकर जो अलौकिक कार्य किए हैं उनका हम यहां संक्षिप्त विवरण लिखते हैं–

(1) कृष्णचन्द्र को गोकुल पहुंचे अभी बहुत दिन नहीं बीते थे कि पूतना नाम की एक 'राक्षसी' रात को नन्द के घर में घुस आई और कृष्ण को उठाकर अपने स्तन से दूध पिलाने लगी। उसके दूध में ऐसा विष भरा था कि यदि कोई दूसरा पान करता तो मर जाता, परन्तु कृष्ण ने इतने वेग उसके स्तन को मुख में लेके खींचा किवह चिल्ला उठी। उसकी चिल्लाहट से बहुत स्त्री–पुरूष एकत्र हो गए।

इस घटना की सत्यता यों प्रतीत होती है, कि कृष्ण 'पूतना' नामक रोग में ग्रसित हो गये होंगे। चिकित्सा के प्रसिद्व ग्रंथ 'सुश्रुत' में पूतना' नामक एक भंयकर रोग बताया गया है जिसकी पीड़ा से छोटे बच्चे प्रायः मर जाया करते हैं।

(2)दूसरी बात का इस प्रकार वर्णन करते हैं कि यशोदा कृष्ण

को अपने छकड़े के नीचे लिटाकर आप वस्त्र धोने चली गई। कृष्ण से रहे थे। जब जागे और माता ना मिली तो भूख से व्याकुल हो चिल्लाने लगे और इतने जोर से लातें मारने लगे कि वह छकड़ा जिस पर घड़े इत्यादि रखे हुए थे उलट गया जिससे सब बर्तन आादि टूट गये पर कृष्ण के चोट नहीं आई और वे फिर सो गये। जब यशोदा आई तो बच्चे को सोता पाया। वह इस घटना को देख चकित हा गई। फिर उसने और नंद ने मिलकर उन टूटे हुए घड़ों और बर्तनों की पूजा की और उन पर दही और फल–फूल चढ़ाये। पाठक वृन्द! क्या आपने नहीं सुना, कि किसी मकान की छत गिर गई और उसमें जो बालक सो रहे थे सही सलामत सोते पाए गए। यदि ऐसी घटनाएं खोजी जाये तो बहुत मिलेंगी जिनमें छत गिर गई हो, चारपाइयां टूट गई हों, उन पर सोये बालकों को कोई चोट नहीं लगी। शेष रही यह बात कि कृष्ण की लात की चोट से छकड़ा उस तरह खड़ा हो कि उस पर तनिक ठोकर लगने से वह गिर पड़ा हो, अथवा किसी पशु ने गिरा दिया हो या किसी अन्य कारण से गिर पड़ा हो।

(3) तीसरी घटना यह है कि एक उड़ने वाला राक्षस (कदाचित कोई पखेरू हो) तृणावर्त उनको लेकर उड़ गया परन्तू बालक में इतना बोझ था कि तत्क्षण भूमि पर आ गिरा। बच्चा तो बच गया पर वह स्वयं वहीं मर गया।

हम प्रतिदिन ऐसी बातें देखते हैं, जिनमें परमात्मा बड़ी तत्परता से अबोध बालकों की रक्षा किया करते हैं। कई बार बालक छत से गिर पड़ा है पर उसे तनिक भी चोट नहीं आई तात्पर्य यह है कि ये सारी घटनाएं ऐसी हैं जिनमें से यदि कवियों की अत्युक्ति निकाल दी जाये तो उनमें असंभवता की गंध भी नहीं रह जाती और न उन्हें अमानुषी कहने का साहस पड़ता है।

एक वर्ष बीतने पर वसुदेव ने अपने पुरोहित गर्ग को भेजा जिसने गोपनीय रूप से उनका नामकरण संस्कार कर दिया! रोहिणी के बालक

का नाम बलराम और देवकी के पुत्र का कृष्ण रखा गया।

ये दोनों बालक ज्यों ज्यों बड़े होते गये उनकी चंचलता भी बढ़ती जाती थी। इनमें कृष्ण विशेष चतुर और चंचल थे। रेंगते रेंगते पशुओं में जा घुसते और छोटे छोटे बछड़ों से खेला करते। दूध–दही के बर्तनों को उलट देते। जब टांगों में थोड़ा बल आया तो इनके ऊधम ने और भी रंग पकड़ा। घर से निकल जाना, दूसरों के घरों में जाकर हंसी मजाक करना, बछड़ों या गउओं की पूंछ खींचना इत्यादि बातें ऐसी थी जो एक चंचल, चतुर तथा बुद्धिमान लड़के में हुआ करती हैं और जिनसे तंग आकर उनके माता पिता या शिक्षक उन्हें ऊधमी कहने लग जाते हैं, क्योंकि उनको ऐसे चंचल लड़कों के शिक्षण का ढंग नहीं आता। वह स्वयं इसके ढंग से अनाभिज्ञ होते हैं। इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि कृष्ण अपनी बाल्यावस्था में बड़े चंचल तथा ऊधमी थे। अपने कामों को बड़ी फुर्ती से करते थे। भय तो कभी इनके पास नहीं फटकता था। उत्तर देने तथा हंसी–मजाक में भी वैसे ही प्रवीण थे। पुराण तो इनके हंसी ठट्ठा का यहां तक वर्णन करता है ि कवह पड़ौसियों का दूध पी जाते थे, दही खा जाते थे और यदि इस बीच में कोई आ निकलता तो दूर सामने खड़े हो उपहास की बातें कहने लग जाते। सारांश यह कि कृष्ण अपने समकालीन बालकों से प्रत्येक बात में बढ़े–चढ़े थे। गोप बालकों की मंडली में बैठे हुए या फिरते हुए भी एक विचित्र आनबान रखते थे और अपने साथियों में नेता और बड़प्पन के रंग–ढंग दिखाते थे।

निडर ऐसे थे कि कैसी ही मरखनी गाय या सांड न डरते, भेड़ियों वह दूसरे जंगली जानवरों से निर्भय बन में घूमा करते थे। यशोदा बिचारी इधर उधर ढूंढ़ा करती, उन्हें देखते ही बिजली की तरह वे कहीं छिप जाते। कभी यमुना में जा घसुते। रात को जब सो जाते तो वह समझती थी कि आज का दिन कुशलता से बीता। इतने चंचल होते हुए भी वह सबको प्यारे लगते थे, क्योंकि एक तो वह ऐसे रूपवान् थे कि सब छोटे बड़े उनसे प्रेम रखते, दूसरे उनकी चंचलता इतनी मोहक थी, जो कठोर से कठोर हृदय को भी शांत करके हंसा देती थी। तीसरे, अपने हमजोलियों

में वह सर्वप्रिय थे। उनकी बात सब मानते। उनसे जुदा होना उन्हें खटकता। वह दिन भर उन्हें अपनी हास्यप्रद बातों से हंसाया करते। नाचते ऐसे की देखने वाला हंसते हंसते लोटपोट हो जाता। बोली ऐसी सुरीली थी कि छोटी उम्र में गड़रियों के गीत गाकर भीड़ अपने पास जमा कर लेते। कुछ बड़े होने पर वंशी बजाने में प्रवीण हो गये थे। इन सब गुणों में मिलकर उस जंगली (गोप) जााति को ऐसा मोहित कर लिया था ि कवे उनके (कृष्ण के) भक्त हो गए। कृष्ण ने गड़रियों, चरवाहों, किसानों तथा जमींदारों के बीच ऐसे गुण प्रकट किए, जिससे प्रत्येक छोटा बड़ा उनकी ओर खिंचने लगा।

समय के फेर ने उन्हें महलों के बदले घास–फूस की झोंपड़ियों का मुंह दिखलाया। सुन्दर सुन्दर सवारियों के स्थान में छकड़े की सवारी दी। धनुष बाण तथा ढाल तलवार के बदले गाय हांकने का डंडा हाथों में पकड़ाया। बहुमूल्य सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण न देकर तन ढंकने को एक लंगोटी दी। शस्त्रविधा से युद्व करने की शिक्षा की अपेक्षा बनैले पशुओं से मल्लयुद्व करना सिखाया और संगीतशास्त्रों से शिक्षा न दिला कर देहाती वंशी पर संतोष कराया। कुटिल काल! तू बड़ा प्रबल है, तेरे हथकंडों से न कोई बचा है और न बचेगा।

पर यह सब बातें ऐसी भाई ओर उन्होंने अपनी विपति से भी ऐसा लाभ उठया कि उन सब कठिनाइयों ने उनके स्वाभाविक, सौजन्य तथा जातीय कुलीनता और उस पर निर्मल बना दिया।

उन गोपों की मंडली में किसी किसी को ही यह मालूम था कि उस चंचल लड़के के वेष में एक राजकुमार पल रहा है,जो समर्थ होकर अपने माता पिता के शत्रुओं का सिर कुचलेगा और अपने रक्त के प्यासों का लहू पिएगा। जो अपने देश और अपनी मातृभूमि को अत्याचारी शासकों के पंजे से छुड़ाकर उनका उद्वार करेगा। फिर विद्या और श्सास्त्र की शिक्षा पाकर ऊंचे से ऊंचे धर्म का उपदेश करेगा और अंत में अपने पीछे अपना शुद्वाचरण छोड़ जायेगा ताकि लाखों वर्ष तक लोग उसको परमेश्वर की पदवी देकर उसका पूजन करें।

बिचारी यशोदा कृष्ण के ऊधम से ऐसी तंग आ गई थी, कि उसने

हार मानकर एक दिन उनकी कमर में रस्सी डाल दी और उस रस्सी को लकड़ी की एक ओखली से बांध दिया। पर ज्योंहि यशोदा ने पीठ मोड़ी, कृष्ण ने रस्सी तोड़ना आरम्भ किया और ऐसा जोर लगाया, कि ओखली को भी साथ खींच ले चले। उनके आंगन में अर्जुन के दो वृक्ष थे, ओखली वृक्षों में फंस गई। कहते हैं, कि जब कृष्ण ने दूसरी बार जोर लगाया तो वृक्ष जड़ से उखड़कर गिर पड़े। इस पर इतना कोलाहल मचा कि सारा गांव उमड़ आया। कृष्ण लोगों को देखकर हंसने लगे। हम नहीं कह सकते िकइस घटना में कहां तक सत्य है। पहली बात तो कुछ असम्भव नहीं जान पड़ती, पर दूसरी बात अर्थात एक छोटे से बच्चे के बल से दो बड़े वृक्षों का जड़ से उखड़ जाना कदापि सम्भव नहीं। हां, यदि उन्हें बड़े वृक्ष की अपेक्षा छोटा पौधा मान लें तो इन पौधों को अत्युक्ति से बढ़ाते बढ़ाते बड़े वृक्ष की पदवी प्रदान कर दी है जिनके बोझ से आधा गांव दब गया।

अवतारों की अमानुषी शक्ति के मानने वालों के लिए (चाहे वे किसी जाति के हों) इन सब कथाओं को सर्वतोभाव से सत्य मान लेने में कुछ संदेह नहीं होना चाहिए। हां, जो महाशय उनकी अमानुषी शक्ति को नहीं मानते, वे अपने परिणाम आप निकाल लेंगे।

पांचवा अध्याय

गोकुल से वृन्दावन गमन

इसी प्रकार गोकुल में रहते जब कुछ काल बीत चुका तो गोपों ने जातीय स्वभाव अथवा आवश्यकतावश अपना निवास–स्थान बदलना चाहा और गोकुल से कुछ दुरी पर एक वन पसंद किया, जिसका नाम वृन्दावन रखा गया। गोपों ने गोकुल में मिट्टी और ईंट के घरद्वार तो बनाए नहीं थे जो उन्हें उनके छोड़ने में कठिनता होती। विचार करते ही सारी आबादी अपना डेरा डंडा उठा, अपने छकड़ों और पशुओं को हांक वृन्दावन की ओर चल दिए और वहां जाकर गोकुल की तरह एक बस्ती बना ली। ऐसा जान पड़ता है कि वृन्दावन को चरागाह तथा घास–पात की बहुतायत के विचार से पसंद किया था। स्थानों का यह परिवर्तन प्रत्येक प्रकार से कृष्ण के अनुकूल पड़ा। अब उनकी वंशी की सुरिली गूंज से सारा वृन्दावन गूंजने लगा। आस पास के वन वाटिका का कोई स्थान कृष्ण और उनके साथियों से छिपा न रहा। जहां लहलहाती हरियाली देखते वहीं गायों को हांक ले जाते। गौवें हरी घास से पेट भरती, आनंदपूर्वक स्वच्छ वायू में अठखेलियां करती, उधर से लड़के किसी छाया में बैठ गाने बजाने का आनंद लूटते। सन्ध्या को अपने पशुओं को हांकते हुए अपने ग्राम में आ जाते। भोजन से छुट्टी पाने पर सारा गांव, क्या बाल क्या वृद्व, सभी एकत्र होते और कृष्ण की वंशी सुनते। युवा और युवतियां तो कुष्ण की वंशी पर ऐसे लट्टू थे कि ज बवह वंशी बजाते तो इनके दल के दल एक वृत बनाकर उसके गिर्द नाचते, चक्कर

लगाते और बाकी सब तमाशा देखते।

जंगल में जब कभी कोई जंगली पशु मिल जाता तो सबके सब मिलकर उनका पीछा करते या तो उनको मार डालते या भाग जाते। ऐसी घटनाओं का पुराणों में प्रायः वर्णन किया है। हम उनमें से कुछ को यहां उद्वत करते हैं–

(1) एक दिन का वर्णन है कि कृष्ण और बलराम अपने साथियों सहित गौवें चरा रहे थे। साथियों में से किसी लड़के ने कहा कि वन में एक जगह खजूर (वृक्ष–विशेष) का कुंज है जिसमें बड़ी और मीठी खजूरें (फल) लगी हुई हैं। पर उस कुंज के बीच में एक भंयकर पशु है जिसके भय से वहां कोई नहीं जाता। यह सुन कृष्ण और बलराम वहां जाने को तैयार हो गए और वहां ईंट और पत्थर चलाने लगे। ईंट और पत्थर की मार से वह पशु चौंका और भयभीत हो बाहर निकला (पुराणों में इस पशु का नाम धनुके है, और शकल गदहे की लिखी है) ज बवह सामने आया तो लड़कों ने उस पर ढेले बरसाना आरम्भ किया। यहां तक िकवह बिचारा चोटों से मर गया।

(2) ऐसे ही अरिष्ट नामी सांड से लड़ाई का वर्णन है।

(3) तीसरी लड़ाई केशी नामी घोड़े से हुई और कृष्ण ने उस पर जय प्राप्त की। फिर एक लड़ाई (कालिय नाग) से हुई।

कहते हैं कि यमुना के एक भाग में जहां एक झील सी बन गई थी, कालिय नाम एक नाग रहता था जिसके भय से कोई उधर फटकने नहीं पाता था। कृष्ण एक दिन संयोग से वहां जा पहुंचे और कालिय ने उन्हें आ घेरा। कृष्ण उससे भिड़ गए और कुछ देर लड़ाई होने पर कालिय घायल होकर भाग निकला।

पुराणों में इन्ही घटनाओं को अमानुषी कहां है और वह इन पशुओं को दैत्य या राक्षस लिखते हैं, पर हमें तो इनमें कोई ऐसी असाधारण बात दिखाई नहीं देती जो इन घटनाओं को मनुष्यकृत मानने में तनिक भी बाधा डालती प्रतीत हों। गांव में पशु चराने वाले लड़कों से आये दिन ऐसी घटनाएं हुआ करती हैं। ग्रामीण बालको की मंडली में कृष्ण और बलराम

का नेता बन जाना कौन सी बड़ी बात थी।

एक क्षत्रिय कुल का युवराज, जिसको विधाता ने राज्य करने को बनाया था पर जो काल की कुटिल गति से ग्रामीण चरवाहों की मंडली में आ गया, यदि वह एक छोटी सी बस्ती में सबका शिरोमणी बन जाये तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। यदि उस पुरी में उसका डंका बजने लगा तो यह कोई विचित्र बात नहीं थी। सारा वन उसके मीठे गान से गूंज उठा।

सर्वत्र उसकी शूरता सराही जाने लगी। गोपों और ग्वालों के लड़कों पर कृष्ण और बलराम राज्य करने लगे यह दोनों राजकुमार जंगली बालक सेना के सेनापति बन बैठे। यह उनकी बनावटी लड़ाइयां आगे का परिचय देती थीं जब उन्हें सचमुच युद्ध की रचना करनी होगी। उनकी मनमोहिनी वाणी मानों उस वशीकरण के सदृश थी जिससे उन्होंने सारी सृष्टि को अपने वश में कर लिया था। जिससे मानों स्वर्ग का द्वार खुल गया और मोक्ष का मार्ग सुगम हो गया था। जिसक बालक ने बचपन में बनैले पशुओं का वध करके मनुष्यों का उपकार या अनुचित कार्य करने से कैसे न रोकता! वह अपने अन्तिम समय तक यही शिक्षा देता रहा कि दुष्टों को, चाहें वे पशु हो या मनुष्य, सदा दंड देते रहना चाहिए जिससे परमेश्वर की निरीह प्रजा उनके अत्याचारों से सुरक्षित रहे।

छठा अध्याय

रासलीला का रहस्य

हिन्दुओं में कृष्ण के नाम पर एक प्रथा प्रसिद्व हैं जिसे रासलीला कहते हैं। इस रासलीला के विषय में अनके मिथ्या बातें जनसाधारण में फैली हुई है जिससे कृष्ण के निर्मल नाम और यश पर धब्बा लगता है। यहां तक कि लोग उसी आशय से कृष्ण को विषयी और दुराचारी बताते हैं। लाखों हिन्दू तो कुष्ण का नाम केवल रासलीला के संबंध से ही जानते हैं। लाखों हिन्दू तो कृष्ण का नाम केवल रासलीला के संबंध से ही जानते हैं। वे न कृष्ण के उच्च शिक्षा से परिचित हैं और न उनको यह ज्ञात है कि कृष्ण ने अपने जीवनकाल में अपने देश के लिए क्या क्या कार्य किए और इतिहास उनको किस प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है। वे केवल उस कृष्ण से परिचित हैं और उसी की पूजा–अर्चना करते हैं जो रासलीला में गोपियों के साथ नाचता और गाता था।

इस प्रवाद में जहां तक सत्य का अंश है और जहां तक श्रीकृष्ण के जीवन से संबंध है और हमें पिछले अध्याय में दिखा चुके हैं। इससे अधिक, इसके अतिरिक्त जो कुछ कहा जाता, किया जाता, अथवा सुना जाता है वह मिथ्या है।

स्मरण रखना चाहिए कि कृष्ण और बलराम 12 वर्ष से अधिक गोप लोगों में नहीं रहे। 12 वर्ष की अवस्था में या उसके लगभग अथवा उससे कुछ पश्चात् वे मथुरा चले आए और फिर यावज्जीन उनको कभी गोकुल एंव वृन्दावन में जाने का अवकाश नहीं मिला, यहां तक कि उन्हें मथुरा भी छोड़नी पड़ी। ऐसी दशा में विचारना चाहिए कि

गोपियों से प्रेम या सहवास करने का उन्हें कब या किस आयु में अवसर मिला होगा।

अतः वह उन सब अत्याचारों के कर्ता कैसे कहे जा सकते हैं जो उनके नाम से रासलीला या ब्रह्मोत्सव देख लेना चाहिए। संसार की एक ऐसी धार्मिक जााति जिसकी धर्मोनति किसी समय जगद्विख्यात थी, आज अपने उस धर्म पर यों उपहास करने पर उतारू हो गई हैं। धर्म के नाम पर हजारों पाप करने लगी है और फिर आड़ के लिए ऐसे धार्मिक महान् पुरूष को चुन लिया जाता है जिसकी शिक्षा में पवित्र भाक्ति कूट कूट कर भरी हुई है।

दुःख की बात है कि हमने अपने महान् पुरूषों का कैसे अपमान किया है। कदाचित् यह इसी पाप का फल है कि हम इस अधःपतन को पहुंच गये और कोई हमारी रक्षा न कर सका।

रासलीला का यथार्थ चित्र तो इस प्रकार है कि वर्षा की ऋतु है। चारों ओर हरियाली लहलहा रही है। एक प्रशस्त मैदान में मीलों तक घास–पात या वनस्पतियों के अतिरिक्त और कुछ दीख नहीं पड़ता। वृक्षों में फूल खिले हुए हैं और फल लटक रहे है। प्रकृति देवी का यौवन काल है। आकाश मंडल मेद्यों से घिर रहा हैं। मेद्यों का रह रहकर मधुर स्वर से गरज जाना कानों को कैसा भला लगता है। कभी कभी बिजली ऐसे वेग से इधर से उधर तड़प जाती है जिससे सारी पृथ्वी ज्योतिर्मयी हो जाती है। मेद्य धीरे धीरे बरस रहा है जिससे सारी वृक्षों पर कलोल कर रहे हैं और उन्मत होकर पानी में स्नान कर रहें हैं! पत्तों पर पानी की बूंदे मोती सी दीख पड़ती हैं और हाथ लगाते ही चूर चूर हो जाती है। वायू के झोंकों से वृक्ष जिस समय झूमने लगते हैं और उनसे पानी टप टप चूने लगता है तो जान पड़ता है मानो अपनी प्रिया कि चाह में आंसु बहा रहे हैं उनके आंसुओं की बूंदे जिन पर पड़ती हैं उनके अशान्त तथा संतप्त ह्मदय को ठंडक पहुंचाती है! ऐसे सुहावने

समय में प्रकृति मनुष्य के चित्त को चंचल कर देती हैं। दुराचारी मनुष्य अपनी अपवित्रता में उन्मत प्रकृति देवी के इस पवित्र सौन्दर्य पर हस्तक्षेप करने लगते हैं, पर लज्जावश मनुष्य दृष्टि से छिपकर केवल कुछ मित्रों में ही ऐसा करने पाते हैं। परन्तू जनसाधारण का ह्रदय अपनी सरलता में यों ही उछल पड़ता है। ऐसे सुहावने समय में प्रत्येक मनुष्य की कवित्व शक्ति उत्साहित हो गाने–बजाने की ओर जाती है। गोपों की छोटी–सी मंडली अपनी प्राकृतिक फुलवाड़ी में आनंद मंगल से गाने बजाने में मग्न हैं। बालक कृष्ण को वंशी बजाने की बड़ी चाह हैं। उसने इस बाजे में प्रवीणता भी प्राप्त की हैं। ज बवह वंशी बजाता है तो उसके चारों ओर भीड़ लग जाती है। गोपों के लड़के और लड़कियां वृत बनाकर उनके चारों और खड़े हैं और नाचना तथा गाना आरम्भ करते हैं। इस मंडली में जिसे देखिये वही इस रंग में रंगा हुआ दीख रहा है। ऐसे समय में कृष्ण भी वंशी बजाते बजाते नाचते रहे हैं। बस, यही रासलीला है और यही रासलीला की विधि है।

पाठक वृन्द! यथार्थ तो बस इतना ही था जिसे पर हमारे पौराणिक कवियों ने ऐसी ऐसी युक्तियां लगाई, इतना ताना बाना बुना की बस पृथ्वी और आकाश को एक कर दिया। इन तांत्रिक कवियों ने कृष्ण का ऐसा चित्र खींचा की यदि उसका सहस्त्रांश भी सत्य हो तो हम यह कहने में तनिक भी नहीं सकुचाएंगे कि कृष्ण अपने जीवन के इस काल में बड़े विषयी और कामातुर थे। आजकल के पौराणिक विद्वानों पर भी इस बात की पोल खुल गई और वे इन प्रेम प्रहसनों से परमेश्वरीय प्रेम का सार निकालने की चेष्टा करते हैं। पर हमारी समझ में यह चेष्टा वृथा है क्योंकि हम देखते है कि विष्णुपुराण में न तो राधा का वर्णन है, न गोपियों के संग कृष्ण की मुंहजोरियों का ही कुछ इशारा है और न चीरहरण की ही कहानी है। हरिवंश और महाभारत में भी इन बातों का कहीं वर्णन नहीं। यह सारी कथाएं ब्रह्मवैवर्त ओर भागवत पुराण के कत्ताओं की गढन्त हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराणों बल्लभाचारी गोसाइयों का बनया हैं, जिन्होंने देश में धर्म की आड़ में कैसस जाल रच रखा है, और अकथनीय अत्याचार किया करते हैं। इन्हीं के एक चेले नारायण भट्ट ने 'व्रजयात्रा' और रासलीला की नींव डाली। जितनी पुस्तकें राधा के प्रेम विषय की मिलती है वे प्रायः सब इसी पंथ के गोस्वामियों की रची हुई हैं।

परमेश्वर जाने इन लोगों ने कुष्ण के जीवन को क्यों कलंकित कर दिया। जब उससे पहले के ग्रंथों में इन बातों का कही वर्णन नहीं, तो इन पर विश्वास करने का हमें कोई कारण नहीं दीखता।

दूसरे, कई एक पुराणों के अनुसार कृष्ण की अवस्था उस समय जब (वे मथुरा में आये हैं) 12 वर्ष की थी तब यह कैसे संभव हो सकता है कि 12 वर्ष की अल्प आयु में इन्हें यह सब बातें प्रकट होती और उनके पास तरूण स्त्रियां भोग विलास की इच्छा से आती और कामातुर हो उनसे अपना सतीत्व नष्ट करातीं। तीसरे, महाभारत में प्रायः ऐसे स्थान आए हैं जहां कृष्ण को उनके शत्रुओं ने अनेक दुर्वचन कहे हैं और उनके जीवन के सब दोष गिनायें हैं। उदाहरणार्थ राजसूय यज्ञ के समय शिशुपाल क्रोध में आकर कृष्ण के अवगुण बताने लगा और उसके बचपन के सब दोष कह गया, पर उसके दुराचारी या विषयी होने का तनिक इशारा भी नहीं किया। क्या यह संभव था कि कृष्ण की जीवनी इतनी गंदी हो (जैसे कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है।) और शिशुपाल क्रोधवश सभी के बीच उनके सब छोटे बड़े अवगुण प्रकट करे और इसका (जो महादोष कहा जा सकता है) वर्णन तक न करे? वही अवसर तो उनके प्रकट करने का था, क्योंकि भीष्म पितामह ने सारी सभा में उसी को उच्चसन देना चाहा था।

कृष्ण उनके समकालीन थे। यदि वास्तव में कृष्ण में ये दोष होते तो यह कैसे संभव था कि ऐसे ऐसे धर्मात्मा महान् पुरूष उनका ऐसा सम्मान करते और सारे आर्यावर्त में यों मान होता? संस्कृत की प्रायः सभी पुस्तकों में कृष्ण को 'जितेन्द्रिय' लिखा है। 'जितेन्द्रिय' उसको कहते हैं जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया हो। यदि कृष्ण का वास्तव में राधा या मानवती से प्रेम था तो इन पुस्तकों में इन्हें जितेन्द्रिय क्यों लिखा।

रासलीला के नृत्य के विषय में प्राचीन ग्रन्थों से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वृत बनाकर नाचने की प्रथा सारे भारत में थी। बहुत से ग्रंथकार तो कहते है कि स्त्री–पुरूष मिलकर वैसे ही नाचते थे जैसे की आजकल अंग्रेजों में उसका चलन हैं।

हां, 'चीरहरण लीला' की कथा भागवत में है, विष्णुपुराण, महाभारत और हरिवंश में इसका वर्णन नहीं है। आजकल के पौराणिक पंडित तो इसको आलंकारिक बतलाते हैं। इसकी कथा इस प्रकार है–'' एक दिन गोपियां किसी सरोवर में नहा रही थी। उनके वस्त्र किनारे पर रखे थे। कृष्ण संयोग से वहां आ पहुंचे। वे इसी ताक में छिपे बैठे थे और वे उन वस्त्रों को लेकर एक वृक्ष पर जा बैठे जब गोपियां स्नान कर जल के बाहर आयीं तो देखती है कि उनके वस्त्र नहीं हैं। इधर उधर ढूंढ़ने पर देखा कि कृष्ण माहशय एक वृक्ष पर बैठे हैं और वस्त्रों की गठड़ी पास रख छोड़ी है।

तब गोपियां अपने वस्त्र उनसे मांगने लगी और हाथ जोड़कर विनती करने लगी। तब कृष्ण ने कहा कि–'नंगी (वस्त्रहीन) मेरे सामने आ जाओ तो दूंगा।' अतः वे सब नंगी उनके सामने आई तब उन महाशय ने उनके वस्त्र लौटा दिये।''

आजकल के पौराणिक टीकाकार इसका सार यों निकालते हैं कि यहां'कृष्ण' शब्द परमेश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। यमुना से तात्पर्य परमेश्वर का प्रेम और गोपियों के वस्त्र से अभिप्राय सांसारिक पदार्थो से हैं। अतः इस कथा से यह भाव निकलता है कि परमात्मा के प्रेम में मग्न होकर मनुष्य को चाहिए कि किसी सांसारिक पदार्थ का विचार न करें, वरन् उसका ध्यान छोड़ दे। पर खेद है कि मनुष्य प्रेम की नदी में स्नान हेतू उन पदार्थो को उठा लेता है जिससे उसका संबंध है। यहां तक ि कवह मनुष्य अपने ईष्ट पदार्थो के लिए कोलाहल मचाता है। परमात्मा उनकी पुकार सुनकर उसे अपने समीप बुलाता है। ज बवह वस्त्रहीन आने में संकोच करता है तो परमात्मा उसको यह उपदेश करता है कि मेरे समक्ष नग्न आने से संकोच मत कर। मेरे पास आने में अपना तन वस्त्र से ढकने

की आवश्यकता नहीं। स्वंय को सांसारिक पदार्थो से पृथक कर मेरे पास आ। तब मैं तेरी सारी कामनाएं पूरी करूगा। और तन ढकने को वस्त्र दूंगा। यह वाक्य रचना चाहे कितनी ही उत्तम क्यों न हो पर इससे भ्रम पड़ने की आशंका हैं। यदि इन सब कथाओं में ऐसी अत्युक्ति बांधी गई है तो हमारी राय है कि इन अत्युक्तियों ने हिन्दूओं को बड़ी हानि पहुंचाई है और उनके आचार व्यवहार को भी बिगाड़ दिया हैं। परमेश्वर के सम्मुख उपस्थित होकर भाक्ति और प्रेम के फूल चुनो। कम से कम कृष्ण जैसे महापुरूष को कलंकित मत करो। और किसी विचार से नहीं तो अपना पूज्य और मान्य समझकर ही उन पर दया करों। उन्हें पाप क्रम का नायक मत बनाओ और उन महानुभावों से बचो जो इस महापुरूष के नाम पर तुम्हारा व्रत बिगाड़ रहे है और तुम्हारी भावनाओं को नरकगामी बनाते हैं।

सातवां अध्याय

कृष्ण और बलराम का मथुरा आगमन और कंस–वध

आखिर यह कब तक संभव था कि यादव वंश के दो राजकुमार यों गोपों के वेष में छिपे रहते और कभी पहचाने नहीं जाते। कस्तुरी चाहे कितने ही वस्त्रों में क्यों न लपेटी जावे, उसकी गन्ध छिपाये नहीं छिप सकती । वैसे ही कृष्ण और बलराम का नाम धाम भी कब तक गुप्त रह सकता था। उनकी आकृति और उनका चाल चलन उनके वंश का परिचय देता था। उनका ऊंचा ललाट और विशाल नेत्र पुकार पुकारकर कहते थे कि ये दोनों लड़के जन्म से गोप नहीं है और न दूध, घी या मक्खन बेचना इनकी जीविका है। जब इनको इस तरह रहते कुछ दिन बीत गये और उनके पराक्रम और शूरता की कहानियां चारों ओर फैलने लगी तो धीरे धीरे यह चर्चा हुई कि ये लड़के गोप नहीं हैं।

होते होते कंस तक भी यह बात पहुंच गई और उसे तत्काल यह शंका उत्पन्न हुई कि हो न हो, ये दोनों लड़के वसुदेव के हैं जो चोरी चोरी गोपों के बीच पले हैं। कुछ ठहरकर उसको इसका विश्वास हो गया और फिर उसे यह चिन्ता लगी कि जिस तरह से हो, इन दोनों को पकड़कर यमलोक पहुंचाऊं जिससे जिससे फिर कोई खटका न रहे। संसार के इतिहास में कंस जैसे सैकड़ों जालिमों का पता चलता है जिन्होंने राज्य के लिए अपने वंश का विध्वंश कर डाला था। उनके क्रूर खड्ग ने न तो बच्चों को छोड़ा और न बूढ़ो को। जिन्होने इसी तरह अपने किसी वीर शत्रु

से छुटकारा पाने के लिए उनका शेर या किसी हाथी से मल्लयुद्ध कराया है। मुसलमान और राजपूतों के इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। पाठक! आप जरा इन पृष्ठों को खोलिये और विचारदृष्टि से देखिए ि कवह जगत् पिता जगदीश्वर कैसा न्यायकारी है और अपनी असहाय और पीड़ित प्रजा का कैसे संरक्षण करता है? वह उन्हें ऐसी सहनशीलता प्रदान कर देता है ि कवे हर एक कष्ट को सहन कर अपने को बचा लेते हैं और इन पर अत्याचार करने वाले अपनी सारी शक्ति के रखते हुए भी उन्हीं के हाथों नीचा देखते हैं।

कृष्ण और बलराम का हाल सुनकर कंस को लगा कि अब मेरा अन्त आ पहुंचा। उसे अब निश्चय हो गया कि जो अगमवाणी देवकी के विवाह के समय हुई थी उसके पूरा होने का समय अब आ पहुंचा है। दुष्ट कंस! तू किस नींद में सो रहा है। तेरे क्रूर हाथ से सृष्टि को छुड़ाने वाला, तुझसे बदला लेने वाला अब आ पहुंचा। तेरी सारी युक्तियां उसका बाल बांका करने में निष्फल हुई। यद्यपि उससके वध करने की इच्छा से तूने सैकड़ों अबोध बालकों का वध कर डाला पर जिसको बचाना मंजूर था, उसे विधाता ने बचा ही लिया।

बादशाही महलों में न पलकर प्रकृति के महलों में उसने परवरिश पाई और जंगली जानवरों के पड़ौस में प्रकृति ने उसे उन कठोर बातों की शिक्षा दी जो दुष्टों के वध करने के लिए बहुत आवश्यक हैं। सारी बाल्यावस्था में वह यही में वह यही शिक्षा पाता रहा कि अपने शत्रु पर दया करना धर्म नहीं। समय ने उसको दुष्टों के लिए निर्दयी बनाकर उससे वह काम कराया जिससे बचने के लिए उसके सारे भाई बहनों का वध हुआ था। पाप और अंहकार के वश होकर कंस को कभी विचार भी नहीं हुआ कि जिसको परमात्मा बचाना चाहता है उसे दुनिया की कोई शक्ति नहीं मार सकती।

सारांश यह कि कंस अब उनके वध को तैयार हुआ और अब की यह तदबीर निकाली कि चतुर्दशी के दिन जो दंगल हुआ करता है, उसमें कृष्ण और बलराम को न्यौता दिया और यादव वंश के एक माननीय सरदार अक्रूर को उनको लेने भेजा। विष्णुपुराण कहता है कि चलती बार

कंस ने अक्रूर से अपना भीतरी अभिप्राय कह दिया था। यह सच हो या न होए पर अक्रूर जिस समय वृन्दावन में पहुंचा और उसकी दृष्टि दोनों भाइयों पर पड़ी तो वह उनके रूप पर मोहित हो गया और उन पर दया दिखाकर उन्हें यथार्थ भेद बता दिया। कंस से लोग ऐसे पीड़ित थे कि कदाचित् अक्रूर ने कृष्ण और बलराम को कंस के विपरीत बहका दिया हो तो इसमें संदेह नहीं। पर फिर भी यह भेद जानकर उनके ह्रदय में भय न समाया और गोपों को साथ लेकर वे अक्रूर के साथ मथुरा चले और सूर्यास्त के बाद वहां पहुंचे। आते ही पहले कंस के धोबी से उसकी मुठभेड़ हुई। वह कुछ क्षुद्रता से पेश आया। यहां तक कि विवाद बढ़ गया और वह उनके हाथ से मारा गया। इसके पश्चात् उनका ऐसा प्रभाव हो गया कि जिस वस्तु की उन्होंने इच्छा की, वह उन्हें मिलती गई।

उधर कंस ने यह आज्ञा दी कि जिस समय कृष्ण और बलराम दंगल में पैर रखें उसी समय एक मस्त हाथी उनके ऊपर छोड़ दिया जाये। यदि इस हाथी से वे बच निकलें तो फिर राज्य के दो बड़े पहलवानों से उनका मल्लयुद्ध कराया जाए। दूसरे दिन ऐसा ही हुआ। जब दोनों भाई दंगल में आए तो एक उन्मत हाथी उन पर छोड़ा गया। उन्होंने बड़ी शूरता से उसका मुकाबला किया और उसको मारकर आगे बढ़े। फिर दो बड़े बलवान् पहलवान उनसे भिड़ने के लिए सामने आए। दंगल के चारों और प्रजा अपने एक मंडल में से तमाशा देख रही थी। बाकी सारी सेना और प्रजा अपने स्थान पर विराजमान थी। हाथी के साथ मल्लयुद्ध होते देखकर सारी सभा जय जयकार की ध्वनि से गूंज उठी। जब यह कोलाहल कुछ कम हुआ तो क्या देखते हैं कि दो ह्रष्ट–पुष्ट पहलवान इनका मुकाबला करने के लिए आए हैं। इस पर लोगों को क्रोध आया और चारों ओर से त्राहि त्राहि की ध्वनि करने लगे। पर महाराज कंस के बैठे रहते किसकी चल सकती थी। लड़ाई शुरू हुई। एक एक पहलवान एक एक राजकुमार

से भीड़ गया और आपस में हाथापाई होने लगी। परिणाम जो विचारा था, वही हुआ। यादववंशीय राजकुमारों के आगे किराये के टट्टू ठहर नहीं सके और पटकनी खा गये। उनके पटकनी खाते ही कंस के आगे अंधेरा छा गया। इतने ही में गोपों के लड़कों ने आकर कृष्ण और बलराम के साथ जय जयकार किया और विह्वल हो नाचने लगे। इनका नाचना कंस के घायल हृदय पर नमक के तूल्य था। महाराज कंस इनकी ढिठाई देखकर जल गया और आज्ञा दी कि अभी ये सब लड़के कृष्ण और बलराम सहित सभा से बाहर निकाल दिये जायें और वसुदेव का कठोरता से वध किया जाए। नन्द को बन्दी किया जाए। पर बलराम और कृष्ण की शूरता को देखकर किसी का साहस न हुआ कि कोई इन आज्ञाओं का पालन करता या उसके लिए आगे बढ़ता। लोग तो पहले से ही कंस से दुःखित थे और चाहते थे कि किसी तरह उससे छुटकारा मिले। सारांश यह कि सारी सभा में से कोई उसकी आज्ञा पूरी करने के लिए नहीं मिला। कंस यह लीला देख अनाथ की भांति बैठा था और सोच रहा था कि मेरा सारा किया–कराया मिट्टी में मिल गया। इतने ही में कृष्ण कूदकर उस मंडप में आ गये जहां कंस विराजमान था और आते ही आव देखा न ताव कंस को बालों से पकड़ कर भूमि पर दे मारा। कुछ देर तक दोनों में लड़ाई हुई और अंत में प्रतापशाली कृष्ण के हाथ से वह मारा गया। कंस से उसकी प्रजा ऐसी आतुर हो गई थी कि इतनी भीड़ में से किसी ने भी उसको बचाने का यत्न नहीं किया। ऐसा लगता था लोगों ने इस अवसर को दुर्लभ समझाा और दोनों प्रतिपक्षियों को अपने आप में निपट लेने का अवसर दिया। हां, कंस का भाई सुमाली आगे बढ़ा। उसको बलराम ने पकड़ लिया और मार डाला।

आठवां अध्याय

उग्रसेन का राज्यरोहण

और कृष्ण की शिक्षा

जब कंस के वध की सूचना उसकी रानियों तक पहुंची तब उन सबने विलाप करना आरम्भ किया। उधर उग्रसेन और कंस की माता भी रो–रोकर कोलाहल मचाने लगी। राजमहल के प्रत्येक स्त्री–पुरूष के चेहरे देखकर लोग उसकी अनीतियों की बात तो भूल गए और उसके रक्त से भरे मृत शरीर को देख लगे रोने तथा विलाप करने। घृणा का बदला लेने का भाव तो जाता रहा; उसकी जगह उनमें दया और दुख का संचार होने लगा। कृष्ण को भी इस शोक में सम्मिलित होना पड़ा। इसके बाद कृष्ण और बलराम वसुदेव और देवकी की ओर बढ़े और अपना माथा उनके पैरों पर रख दिया। एक ओर तो उग्रसेन और उसकी पत्नी का अपने पुत्रों की मृत्यु पर विलाप और दूसरी ओर वसुदेव तथा देवकी का अपने बिछड़े हुए पुत्रों से मिलाप। ये दोनों ऐसे दृश्य थे जो एक ही सभामंडल में लोगों के ह्रदय में विपरीत भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस सारे दृश्य में लोगों को परमात्मा के अटल न्याय की रेखा दिखाई देती थी। जो दुख और संताप

कंस तथा सुमाली के मृत शरीर के देखने से होता था वह तत्काल वसुदेव और देवकी के विह्वल ह्रदय के नीचे दब जाता था। कंस की वह कार्यवाही लोगों के सामने फिर घूमने लगी जो उसने वसुदेव और देवकी के बच्चों का वध करने के लिए की थी। कृष्ण के

माता और पिता के आनन्द में सारी सभा आ मिली। यादव वंश के सब छोटे बड़े एक एक करके कृष्ण के पैरों पर आ पड़े और सबने उनसे राज्य तिलक ग्रहण करने की प्रार्थना की । सारी सभा इन शब्दों से गूंज उठी कि कृष्ण मथुरा की गद्दी पर बैठें और राज्य करें। युवा कृष्ण के लिए यह कड़ी परीक्षा का समय था। एक ओर तो राजपाट और सारे ऐश्वर्य उनके सामने हाथ जोड़े खड़े थे। सारे भाई बन्धु और प्रजा उनसे ह्रदय में न्याय और धर्म के उच्च भाव एकत्र हो रहे थे। उनके भीतर से यह आवाज़ आई कि मुझे इस गद्दी का अधिकार नहीं लेना। मैंने कंस को इसलिए नहीं मारा कि उसका राजपाट स्वंय भोगूं। यदि मैंने इस समय गद्दी स्वीकार कर ली तो संसार को यह कहने का अवसर मिलेगा कि राज्य के लालच में आकर मैंने कंस का वध किया, पर मेरे ह्रदय में इसका कभी विचार भी नहीं हुआ। इस विचार के आते ही कृष्ण ने ठान लिया कि नहीं, मैं गद्दी नहीं लूंगा। गद्दी उग्रसेन की है जिसे दुष्ट कंस ने अन्याय और बल से छीना था। उग्रसेन ने भी बहुत अनुरोध किया कि मैं तो इससे प्रसन्न हूं कि आप गद्दी पर बैठें। पर कृष्ण ने एक न सुनी और सबके सामने उग्रसेन को फिर से गद्दी पर बैठा दिया। जो लोग कंस के अत्याचारों से डरकर देश छोड़कर चले गये थे उन सबको बुला लिया गया। सारांश्ज्ञ यह कि सब प्रबन्ध ठीक कर कृष्ण ने अपने भाई बलराम सहित विद्या के निमित काशी जाने का निश्चय किया।

पाठक! विद्योपार्जन के समय का बड़ा भाग तो कृष्ण और बलराम का वृन्दावन के वनों में पशुओं को चराने और वंशी बजाने में व्यतीत हुआ। उस समय उनकी प्राणरक्षा के लिए उनकी वास्तविकता अवस्था छिपाना आवश्यक था। पर जब कृष्ण को अपने वंश का पता लगा तो उन्होंने कुछ विद्याध्ययन करना आवश्यक समझा क्योंकि उसके बिना अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकते थे। क्षत्रिय वंशावतंस दोनों राजकुमारों ने इस कमी को पूरा करने का संकल्प कर लिया और वहीं से उन प्यारे गोपों को विदा कर दिया जिन्होंने बचपन में उनकी रक्षा की थी। अपने धर्म पिता नन्द और उनके संबंधियों से बड़े हौसले से आज्ञा

मांगी और अपनी धर्म माता यशोदा को ममत्व और प्रेम के भरे संदेश भेजे। इसी तरह सब साथियों से गले मिलकर विदा हुए, जिनके साथ उन्होंने कैद के दिन काटे थे और जिनकी संगीत में सुख की नींद सोये थे। यह विचार मानो उस समय के राजघरानों में साधारणतः अनुकूल था। अपने धर्म का ज्ञान होते ही उन सब संबंधो पर लात मार बैठे। नन्द और यशोदा का स्नेह, गोपों का प्रेम और खेल–कूद उनके चित्त को चलायमान न कर सका।

कृष्ण की शिक्षा के विषय में पुराणों से बस इतना पता मिलता है कि कृष्ण के गुरू का नाम सन्दीपन था जो अवन्तीपुर नामक स्थान का रहने वाला था। पुराण कहता है कि कृष्ण ने सन्दीपन से केवल 24 दिन शिक्षा पाई और इसी अल्पकाल में वे सारी शास्त्रविद्या में निपुण हो गए। पर महाभारत में श्रीकृष्ण की शिक्षा का स्थान स्थान पर वर्णन आया है जिससे विदित होता है कि कृष्ण अपने समयय के परम विद्वान और वेदशास्त्र के ज्ञाता भी थे। महाभारत में एक स्थान पर वर्णन है कि कृष्ण ने दस वर्ष तक तप किया था, जिससे हम परिणाम निकालते हैं कि उग्रसेन को मथुरा की गद्दी देकर श्रीकृष्ण ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके दस वर्ष पर्यन्त केवल विद्या का उपार्जन ही करते रहे।

नवां अध्याय

मथुरा पर मगध देश के राजा

जरासंध का आक्रमण

जिन दिनों तक मथुरा की गद्दी पर विराजमान था उस समय मगध देश का राज्य महाराजा जरासंध के अधीन था, जिसने सारे राजाओं को जीतकर महाराज की उपाधि ली थी। कंस ने अपना बल बढ़ाने के लिए जरासंध से संबधं स्थापित किया और उसकी दो लड़कियों से विवाह कर लिया था।

कंस–वध का समाचार जब जरासंध को मिला तो वह क्रोधांध हो गया और यादवों का नाश करने के लिए लड़ाई की आज्ञा दे दी और अगणित सेना लेकर मथुरा पहुंचा। जरासंध की चढ़ाई की खबर सुनकर मथुरा वालों ने श्रीकृष्ण व बलराम को याद किया क्योंकि इस चढ़ाई के मूल कारण श्रीकृष्ण ही थे। अतएव इस युद्व के समय उनहें अपने वंश की सहायता करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसलिए वह और बलराम जरासंध से पहले मथुरा आ पहुंचे और बड़ी शूरता से अपनी जन्मभूमि और उसके राजा की रक्षा में तत्पर हुए। यद्यपि जरासंध की सेना के सामने यादवों की गिनती बहुत कम थी और उस महान् सामर्थ्य वाले राजा के सम्मुख इनके राज्य की कुछ तुलना भी नहीं थी, पर वे अपने नगर और राजा के लिए जी जान से ऐसे लड़े कि उन्होंने जरासंध की सेना के दांत खट्टे कर दिए। जरासंध इतना निराश हुआ कि उसने मथुरा का घेरा उठा लिया और चलता बना।

इसी प्रकार अठारह बार उसने आक्रमण किया पर हर बार निष्फल रहा। अन्तिम बा रवह बड़ी तैयारी से आया और अपने साथ अपने अधीन राजाओं को भी लेता आया।

इस चढ़ाई की खबर पाकर यादवों को बड़ी चिन्ता हुई, पर कृष्ण की सलाह से यह निश्चय किया गया कि इस अगणित सेना से लड़ना मानो अपने आपका बलिदान देना है। बारह बार जरासंध ने म्लेच्छों की सहायता ली है। अब उससे मुकाबला करना मानो अपना बल तोड़ना है। इस बात को विचारकर सबने यही निश्चय किया कि मथुरा कि मथुरा छोड़कर किसी और स्थान की शरण लेनी चाहिए। इन्हीं बातों को विचार तथा अपनी धन–सम्पति को ले उन्होंने मथुरा को छोड़ दिया और पश्चिम में समुद्र के किनारे गुजरात प्रदेश में द्वारिका नामक एक स्थान को अपने वास के लिए चुना। यह शहर पहाड़ की घाटी में बसा हुआ था। यहां कृष्ण ने एक टापू में द्वारिकापुरी की नींव डाली। यह पुरी अब तक स्थित है और हिन्दुओं का प्रसिद्व तीर्थ है। यहां यादवों ने एक मजबुत दुर्ग बनाया और अपने पहरे चौकी का पूरा प्रबंध करके रहने लगे।

दसवां अध्याय

कृष्ण का विवाह

बरार के राजा भीष्मक की रूपवती पुत्री का नाम रूक्मिणी था। कृष्ण इसके सौन्दर्य का हाल सुनकर उस पर आसक्त हो गए। यह प्रेम दोनों ओर से था। वह भी कृष्णचन्द्र के रूप और गुणों पर मोहित थी। उसकी मनोकामना यही थी कि किसी प्रकार कृष्ण महाराज मेरा पाणिग्रहण करें। पर इसमें एक रूकावट यह थी कि उसका पिता भीष्मक राजा जरासंध के दबाव में था। उसने जरासंध की सम्मति से रूक्मिणी की मंगनी चेदि के राजा शिशुपाल से कर दी, जो जरासंध के साथ विवाह करने आ पहुंचा। जब कृष्ण को खबर मिली कि रूक्मिणी का पिता उसका विवाह करने लगा है तो वे (कृष्ण) भी बलभद्र और दूसरे साथियों सहित भीष्मक की राजधानी कुण्डिनपुर जा पहुंचे और जब रूक्मिणी मंदिर से लौटती हुई अपने घर जा रही थी तो उसे रथ में बिठाकर ले चले। रूक्मणी के भाई रूक्मी ने जब यह लीला सुनी तो वह बड़ा कुपित हुआ और उनका पीछा किया। जब दोनों की मुठभेड़ हुई, तो रूक्मी परास्त हुआ और निश्चय था कि वह मारा जायेगा तब उसकी बहन ने उसका पक्ष लिया उसकी जान बचाई। इस तरह रूक्मी को नीचा दिखाकर श्रीकृष्ण रूक्मिणी को लेकर द्वारिका आए और राक्षस रीति से एससे विवाह कर लिया।

इस विवाह से प्रद्युम्न उत्पन्न हुआ जिसका महाभारत में स्थान स्थान पर वर्णन आया है।

ग्यारहवां अध्याय

श्रीकृष्ण के अन्य युद्व

द्वारिकापुरी में जा बसने के पश्चात् कृष्ण का जीवन दो भागों में विभाजित होता है। एक वह जो महाभारत के युद्व में दीख पड़ता है और दूसरा वह जो दूसरी लड़ाइयों के वृत्तान्त से विदित होता है। द्वारिका में वास करने के बाद श्रीकृष्ण की राजनीति का बड़ा अंश महाभारत में व्यतीत हुआ है। महाभारत में कृष्ण की जो बातें लिखी हैं उनसे उनके जीवन का कुछ–न–कुछ पता तो अवश्य चलता है इसलिए हम पहले उन लड़ाइयों का वृत्तान्त इतनी अत्युक्तियों से ऐसे भरे हुए हैं कि उनमें से यथार्थ बातों का सार निकालना संभव नहीं।

(1) विष्णुपुराण में (29वां अध्याय) उस आक्रमण का वर्णन है जो कृष्ण ने कामरूप (आसाम) की राजधानी प्राग्ज्योतिष पर किया था। यहां के राजा का नाम 'नरक' लिखा है। इस युद्व का कारण यह बताया जाता है कि प्राग्ज्योतिष का राजा बड़ा अन्यायी था। डराकर लोगों की स्त्रियों और कन्याओं को अपने घर में डाल देता था और जब उस प्रांत के लोगों ने इस बात की कृष्ण से आकर शिकायत की तो उन्होंने 'नरक' पर चढ़ाई की और उसको मारकर उन सब स्त्रियों को छुटकारा दिया जो उसके महल में कैद थी और जिनकी गिनती 16 हज़ार कही गई है।

(2) दूसरी लड़ाई जिसका वर्णन विष्णुपुराण में है कर्नाटक के राजा 'बाण' से हुई। इसका कारण यह जान पड़ता है कि कृष्ण के पोते अनिरूद्व और बाण की पुत्री उषा में परस्पर प्रेम हो गया था। यह प्रेम यहां तक बढ़ा कि अनिरूद्व उषा के चान्वल्य से बाण के महलों में जा पहुंचा।

वहां अपनी प्रिया के संग पकड़ा गया और बंदी बना लिया गया। जब यह समाचार द्वारिका पहुंचा, तो श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न उसे छुड़ाने गए। एक भंयकर लड़ाई के बाद बाण पराजित हुआ और कृष्ण अनिरूद्ध को लेकर लौट आये।

(3) तीसरी लड़ाई जिसका वर्णन विष्णुपुराण में आया है, बनारस के राजा पौण्ड्रक से हुई थी। इस राजा ने वासुदेव की उपाधि ग्रहण कर ली थी, पर कृष्ण की उपाधि भी यही थी। ऐसा कहते हैं कि इस (पौण्ड्रक) ने ईर्ष्यावश श्रीकृष्ण को एक उद्दण्ड संदेश कहला भेजा और इसी से दोनों में युद्व हुआ जिसमें पौण्ड्रक मारा गया। इस लड़ाई में पहले चढ़ाई किस ओर से हुई इस विषय में मतभेद है। विष्णुपुराण के अनुसार जब कृष्ण को झूठा और छली कहा गया तो पहले उन्होंने ही चढ़ाई की, पर दूसरे लोग यह कहते हैं कि जब कृष्णचन्द्र कैलाश–यात्रा को गए हुए थे तो पौण्ड्रक पहले द्वारिका पर चढ़ आया और इसी से युद्व आरम्भ हुआ।

बरहवां अध्याय

छोपदी का स्वयंवर

और श्रीकृष्ण की पांडुपुत्रों से भेंट

आर्यावर्त में कौरवों और पांचालों की लड़ाई इतनी प्रसिद्व है कि एक छोटा बच्चा भी उसे भली भांति जानता है। वस्तुतः कौरव और पांचाल दो जातियों के नाम थे, जो भारतवर्ष के उत्तर प्रांत में शासन करती थी। कुरु जाति की योग्य भूमि का नाम कुरूवन था और पांचालों के देश का नाम पांचाल ही था। यद्यपि दोनों जातियां एक ही वंश से थी, पर दोनों में ऐसा विरोध था कि सदा आपस में लड़ती रहती थी। पाण्डुपुत्र (युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव) और दुर्योधन इत्यादि ये सब कुरूवंश के राजकुमार थे और आपस में चचेरे भाई थे। पांचाल के राजा का नाम द्रुपद था जो राजकुमारी द्रोपदी का पिता था। दुर्योधन का पिता अंधा होने से गद्दी पर नहीं बैठा। पांडू राज्य करता था। पांडू के मरने पर धृतराष्ट्र का बड़ा पुत्र दुर्योधन गद्दी का दावेदार हुआ और इसकी सिद्दि के लिए वह पांडूपुत्रों की जान के पीछे पड़ा। यह विग्रह इतना बढ़ा धृतराष्ट्र ने पाण्डवों से कहा, वे कुछ काल के लिए विराट नगर में जाकर रहें। पाण्डवों ने जब इस बात को स्वीकार कर लिया तो दुर्योधन ने अपने एक मित्र विरोचन को इसलिए आगे भेज दिया, ताकि वह युधिष्ठिर तथा अन्य पाण्डवों के रहने के लिए लाख के एक घर का निर्माण करा दे जिसमें जब पाण्डव जाकर रहें तो किसी भी दिन या रात को उसमें आग

लगा दी जाय और इस प्रकार सबके सब अंदर जल मरें। पर दुर्योधन की इस करतूत की खबर विदुर को मिल गई। उन्होंने अपने भतीजे युधिष्ठिर इत्यादि को इससे सूचित कर दिया और इसलिए सावधान होकर पांचों पाण्डव आग लगने के पहले ही वहां से भाग निकले और ब्राह्मण का रूप धर छिपे छिपे वन में विचरण करने लगे। इन्हीं दिनों में पांचाल की राजपुत्री द्रौपदी का स्वयंवर रचा गया था। इस उत्सव में आर्यावर्त के सब क्षत्रिय राजा महाराजा उपस्थित थे। श्रीकृष्ण भी अपने भाई बलराम के साथ आए हुए थे। एक ओर ब्राह्मण के वेष में पाण्डवगण भी बैठे हुए थे।

इस स्वयंवर में विजय का नियम यह रखा गया था कि तेल की एक कढ़ाई में एक चक्र पर मछली का चित्र बना था। वह मछली घूमती थी। इसकी परछाई तेल में देखकर जो अपने बाण से मछली के नेत्र में निशाना लगाएगा वही द्रोपदी का पति होगा। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय धनुष विद्या में कर्ण और अर्जुन बड़े निपुण थे। इनकी समता कोई नहीं कर सकता था। अब उपस्थित राजाओं में से कोई भी इस नियम का पालन नहीं कर सका, तो कर्ण उठा, जिस पर द्रौपदी ने कहा कि यह सारथी का पुत्र है, इससे मैं विवाह नहीं कर सकती। यह सुनकर कर्ण अपना सा मुंह लेकर बैठ गया। अंत में ब्राह्मणों की पंक्ति में से अर्जुन उठा और उठते ही इस फुर्ती से बाण मारा कि वह सीधा निशाने पर लगा। बस फिर क्या था, द्रौपदी ने आगे बढ़कर फुलों का हार उसके गले में पहना दिया। यह देखकर सारी सभा में कोलाहल मच गया। सारे राजा महाराजा कहने लगे कि स्वयंवर में ब्राह्मण राजकन्या को नहीं वर सकता। इस संघर्ष में अर्जुन और भीम ने जो हाथ दिखाया, जिससे श्रीकृष्ण ने उन्हें पहचान लिया और बीच में पड़कर यह निर्णय करा दिया कि इस ब्राह्मण ने नियामानुसार स्वयंवर जीता है, इसलिए न्याय और नियम के अनुसार द्रौपदी इसकी हो चुकी है। श्रीकृष्ण का प्रभाव इतना प्रबल था कि इस फैसले पर सबके सब चुप रहे और वहां से चल दिये। अर्जुन अपने भाइयों सहित द्रौपदी को लेकर अपनी माता के पास गए। फिर कृष्ण भी वहां पहुंचे युधिष्ठिर की माता कुन्ती, कृष्ण की बुआ थी। एक दूसरे को पहचानकर

तथा कुशल–क्षेम पूछने पर पाण्डुपुत्र कृष्ण से पूछने लगे, ''आपने हमको किस तरह पहचाना? इसके उत्तर में कृष्ण ने कहा कि अग्नि छिपाये नहीं छिप सकती। आपने जो विचित्र कार्य आज द्रुपद की सभा में किया है, उसी ने आप सबका परिचय दे दिया। पाण्डवों को छोड़कर और किसमें सामर्थ्य है जो ऐसा खेल खेलता।

तेरहवां अध्याय

कृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ अर्जुन का विवाह

द्रौपदी के स्वयंवर का समाचार जब धृतराष्ट्र के कानों तक पहुंचा तो उसने भीष्म की सलाह से विदुर को द्रुपद के दरबार में यह कहकर भेजा कि वह वहां से पाण्डवों को उनकी विवाहिता पत्नी सहित ले आये। अब विदुर राजा दुप्रद के दरबार में पहुंचे और उन्होंने अपना संदेश कहा। वहां कृष्णचन्द्र भी मौजुद थे। द्रुपद ने विदुर से कहा कि इसकी व्यवस्था श्रीकृष्ण से लेनी चाहिए। यदि उनकी सम्मति हो तो मैं भेजने में कुछ हस्तक्षेप नहीं करूंगा। कृष्ण ने यही सम्मति दी कि अब पाण्डुपुत्रों को स्वदेश ही जाना चाहिए। यह सुनकर द्रुपद ने उन्हें जाने की आज्ञा दी। वे सब हस्तिापुर पहुंच गये। राजा धृर्तराष्ट्र ने अपने पुत्रों को शान्त करने के लिए पाण्डवों को राज्य बांट दिया और उनसे कह दिया ि कवे खांडवप्रस्थ के वन में जा बसें।

यह सुनकर पाण्डव उस वन में चले गये और वहां उन्होंने इन्द्रपस्थ नगर बसाया। पाठक! यह इन्द्रप्रस्थ वही शहर है जो आजकल दिल्ली के नाम से प्रसिद्व है। पर जहां पर दिल्ली बसी है वहां से इन्द्रप्रस्थ की बस्ती कुछ

दूरी पर थी।

जब पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में जा बसे और आनंद से रहने लगे तो कृष्णचन्द्र इस धर्म के काम को सम्पूर्ण कर द्वारिकापुरी को लौट आये।

कुछ काल बीतने पर अर्जुन जब द्वारिका गये तो वहां कृष्ण ने उनका बड़ा सत्कार किया। राज्य के कर्मचारी और नगर के धनिक लोगों ने भी आदरपूर्वक स्वागत किया।

अर्जुन अभी द्वारिका में ही थे कि वहां की एक पहाड़ी 'गिरनार' पर एक मेला लगा। इस मेले में भ्रमण करते अर्जुन ने सुभ्रदा को देखा। सुभद्रा कृष्ण की सहोदरा बहन और परम सुन्दर थी। अर्जुन उसे देखकर प्रेमासक्त हो गया और टकटकी बांधकर देखने लगा। कृष्ण भी इस भेद को समझ गये। उन्होंने हंसी हंसी में सुना भी दिया कि ''जो रात–दिन जंगल जंगल विचरता फिरता है उसे प्रेम प्रहसनों से क्या काम!'' पर जब कृष्ण ने उसे बतलाया कि सुभद्रा उसकी बहन है तो अर्जुन उनसे इस बात का अनुरोध करने लगा कि उसका विवाह सुभद्रा के साथ होना चाहिए। कृष्ण भी चाहते थे कि यह संबंध हो जाये, क्योंकि वह जानते थे कि अर्जुन अपने समय का प्रसिद्व वीर है, इससे संबंध जोड़ना अपने को गौरवान्वित करना है। पर उन्हें इस बात का भय था कि कदाचित् उनके भाई बंधु इसे स्वीकार नहीं करेंगे क्योंकि अर्जुन तथा अन्य पाण्डवों के जन्म के विषय में उस समय लोगों में बहुत चर्चा थी। इसलिए कृष्ण ने इन बातों की चिन्ता कर अर्जुन से कहा कि मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि स्वयंवर में सुभद्रा तुम्हीं को वरेगी। क्षत्रियों में गन्धर्व विवाह की रीति है और योद्वाओं के लिए यह बात प्रतिष्ठा की समझी जाती है ि कवह विवाह करने की इच्छा से अपनी प्रिया को अपहृत कर लें। अतएव यदि तुम सुभद्रा पर ऐसे मोहित हो तो तुम्हारे लिए इससे उत्तम कोई और उपाय नहीं कि तुम उसको बलात् ले जाओ। फिर निश्चय ही तुम्हारा विवाह उससे होगा। तत्पश्चात् निश्चय हुआ कि इस बारे में पहले युधिष्ठिर की आज्ञा ले ली जाए। इसलिए एक दूत उनके पास भेजा गया। जब वहां से आज्ञा मिल गई तो एक दिन अर्जुन रथ लेकर सुभद्रा के रास्ते

में जा बैठा। वह उसके पास से निकली तो उसको बलात् उठाकर रथ में बैठा लिया और वहां से चले गये। जब सुभद्रा की सहेलियों ने इसकी खबर दरबार में पहुंचाई तो सब लोग आग बबूला हो गये। फिर शिशुपाल ने शंख बजाया जिससे सारे यादव और भोज शस्त्र धारण करके इकट्ठे हुए। जब उन सबने सुना कि अर्जुन उनकी राजकुमारी को बलपुर्वक हर ले गया है तो उनकी आंखों में लहू टपकने लगा और सब बदला लेने के लिए तत्पर दीख पड़ने लगे। इतने में बलराम आ पहुंचे और पूछा कि आप सब लोगा ऐसे उत्तेजित क्यों दीख पड़ते है, किन्तू कृष्णचन्द्र चुपचाप बैठे हैं। फिर उनसे इसका कारण पूछा, '' हे कृष्ण, तुम चुप क्यों हो? तुम्हारे ही कारण तो हम सबने अर्जुन का इतना सम्मान किया औश्र आगत का स्वागत किया। अब प्रकट हुआ कि वह इस सम्मान और स्वागत के योग्य न था। उसने हमारा बड़ा अपमान किया। हमारी बहन का उसने जो अपमान किया है वह सह्य नहीं। यह कैसे हो सकता है कि हम इस अपमान को चुपचाप सहन कर लें। हम इसका बदला लेंगे और जब तक पृथ्वी को कौरवों से शून्य नहीं कर लेंगे, दम नहीं लेंगे।

जब चारों ओर से यही आवाज गूंज उठी और यादव मरने मारने पर बद्वपरिकर हो गए तो कृष्ण ने अपना मौन तोड़ा और बोले, ''हे भाइयों, आपका यह विचार ठीक नहीं कि अर्जुन ने हमारा अपमान किया। मेरी समझ में तो उसने हमारी प्रतिष्ठा ही बढ़ाई है। वह जानता था कि हमारे वंश में बदला लेकर लड़की देना निषिद्व है। स्वयंवर में सफलता की उसे पूरी आशा नहीं थी। उसके पद और वीरता से यह संभव नहीं था ि कवह आपसे कन्यादान मांगता। अतएव उसने क्षत्रियों की चाल चली। जैसे सुभद्रा परम रूपवती और गुण सम्पन्ना है; वैसे ही अर्जुन भी प्रत्येक प्रकार से उसके योग्य है। भरत का वंशज, शान्तनु का पोता और कुन्तिभोज का नाती वह किसी प्रकार उसके अयोग्य नहीं कहा जा सकता। मुझको आज सारी पृथ्वी पर उसके समान कोई वीर दिखाई नहीं देता। किसका हौसंला है जो लड़ाई में अर्जुन का मुकाबला कर सके। उससे बाजी मारके जाना कठिन है, उसकी वीरता अपने

आपमें आदर्श है। इसलिए मेरी सम्मति है कि इसमें उत्तेजना से काम नहीं लिया जाए वरन् उसे बुलाकर उसका विवाह सुभद्रा से कर दिया जाए। यदि हम उससे लड़े और पराजित हुए तो इसमें हमारी हंसी होगी मेंल कर लेने में कोई हंसी नहीं।

''साराशं यह कि इस प्रकार कृष्ण ने अपने भाइयों का क्रोध ठंडा किया। उनकी बात से सब सहमत हुए और अर्जुन को बुलाकर उनके साथ सुभद्रा का विवाह कर दिया। अर्जुन सुभद्रा के साथ विवाह कर कुछ दिन तक वहां रहा और बारह वर्ष पूरे होने पर अपनी धर्मपत्नी को लेकर इन्द्रप्रथ चला गया। जब अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ पहुंचने की खबर आई तो कृष्ण अपने भाई बंधुओं सहित बड़ी धूमधाम से सुभद्रा का दहेज लेकर चले। इस दहेज में युधिष्ठिर आादि के लिए पृथक्–पृथक् उत्तम उत्तम भेंट थी। इन्द्रप्रस्थ वालों ने जिस तरह कृष्ण और उसके साथियों का स्वागत किया, वह निम्न वर्णन से भली प्रकार प्रकट होता है।

राजकुमार नकुल और सहदेव ने नगर से बाहर जाकर मेहमानों का स्वागत किया और फिर उन्हें बड़ी धूमधाम से गाजे बाजों और पताकाओं के साथ शहर में ले आये। शहर की गलियां इस उत्सव के लिए साफ की गई और उन पर छिड़काव किया गया। अब बाज़ार, गली और कुचे रंग विरंगे फूलों और हरियाली से सजे हुए थे। इन फूलों पर चन्दन का छिड़काव हो रहा था जिससे चारों ओर सुगन्धि फैल रही थी। नगर के हर कोने में सुगन्धि जलाई गई थी जिससे कहीं दुर्गन्ध न रहे। नगर के बाहर विद्वान ब्राह्मण स्वागत के लिए गये। सबने रीति के अनुसार कृष्ण की पूजा की। स्वयं महाराज युधिष्ठिर आदरपूर्वक आगे बढ़े और उन्हें गले लगाकर अन्तःपुर में गए।

चौदहवां अध्याय

खांडवप्रस्थ के वन में

अर्जु और श्रीकृष्ण

महाभारत से मालूम होता है कि पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ से कुछ दूरी पर एक सुन्दर वन था जिसको खांडवप्रस्थ कहते थे। इसमें बनैले पशुओं के अतिरिक्त अनके असभ्य जाातियां निवास करती थी। जिसको उस समय तक किसी ने नहीं जीता था। यह वन बहुत बड़ा था। इस वन में रहने वाली जाातियां बड़ी वीर और लड़ाकू थी। पाण्डवों को उव वन का अधिकार देने में धृतराष्ट्र की यही नीति थी ि कइस पर स्वत्व जमाने में या तो स्वयं पाण्डवगण अपने प्राण नष्ट कर देंगे या उनको मारकर एक ऐसे प्रदेश को राज्य में मिला देंगे, जिसे उनके पहले कोई भी अपने अधीन नहीं कर सका था। वास्तव में धृतराष्ट्र की यह अनीति और अन्याय था कि अपने पुत्रों को तो अच्छी बस्ती और उपजाऊ भूमि दे और पाण्डवों को पथ्रीला और उजाड़ वन मिले। धर्मवीर युधिष्ठिर स्वयं पर धृतराष्ट्र का इतना प्रभाव मानते थे कि उसने इस बात पर तनिक भी आशंका नहीं की और प्रसन्नचित होकर इस प्रान्त को अंगीकार कर लिया। पांचों भाइयों में इतना प्रेम था, कि किसी ने भी युधिष्ठिर के स्वीकार करने पर नाक भी नहीं चढ़ाई। बात भी सत्य है, जब युधिष्ठिर स्वीकार कर चुका तो उसके छोटे भाई जो उसके आज्ञाकारी थे, कैसे शंका करते? ज बवह भाग विभाजित हुआ तो कृष्ण (जो द्रुपद के यहां से पाण्डवों के साथ आये थे) यहां उपस्थित थे। उन्होंने पाण्डवों को यह

कहकर शान्त कर दिया कि भाइयों में परस्पर विग्रह न भड़कने पावे। स्मरण रखना चाहिए कि पाण्डव उनके फुफेरे भाई थें पिता की गद्दी पर उनका पूरा स्वत्व था, पर धृतराष्ट्र के अन्याय के कारण वे मारे मारे फिरते थे। अन्त में जब उन्हें पृथक् राज्य दिया भी गया, तो ऐसा जिसे स्वत्व में लाने में उन्हें अपनी जान बचाना मुश्किल था। द्रौपदी के स्वयंवर में उनकी अवस्था देखकर कृष्ण ने ठान लिया था कि उनको उनका अधिकार दिलवा दिया जाए। हस्तिनापुर आकर उनकी भलाई के लिए उन्हें यही हितकर दीख पड़ा कि इसके लिए वह बहुत जोर न दें जब पाण्डवों ने खांडवप्रस्थ को लेना स्वीकार कर लिया तो कृष्ण ने उनका साथ दिया। उस वन को काटने तथा बसाने में उनकी सहायता की। यहां तक कि वे तब तक द्वारिका नहीं गये जब तक इन्द्रप्रस्थ अच्छी तरह बस नहीं गया और पाण्डवों का वहां पूरा अधिकार नही ंजम गया।

कृष्ण के वंश से यों संबंध हो जाने से पाण्डवों को बड़ा सहारा मिला और सारे आर्यवर्त में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। शत्रु भी उनसे भय खाने लगे। दुर्योधन को भी लगा कि कृष्ण और उनके यादव वीर पाण्डवों की पीठ पर हैं। इसके अतिरिक्त इस संबंध से उनका एक अभिप्राय यह भी था कि वे अपने शत्रु जरासंध से बदला लेने में अर्जुन आदि से सहायता लेना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि पाण्डव उनका उपकार मानकर जरासंध के नाश में स्वयमेव उनकी सहायता करें। कृष्ण की युक्ति फलदायक हुई और ऐसा ही हुआ। इनमें परस्पर ऐसा प्रेम बढ़ा कि कृष्ण प्रायः सब लड़ाइयों में पाण्डवों का साथ देने लगे। ऐसा जान पड़ता है कि जब सुभद्रा का दहेज लेकर कृष्ण इन्द्रप्रथ गये तो अर्जुन ने उन्हें वहां रोक लिया। फिर दोनों ने यह पक्का किया कि वे खांडवप्रस्थ की जंगली

जातियों को जीतकर युधिष्ठिर का राज्य बढ़ा दें और जंगल को काटकर अथवा जलाकर सारे स्थान को उपजाऊ बना दें। आादि पर्व के 224वें अध्याय से लेकर पर्व की समाप्ति तक आलंकारिक शैली में इन्हीं युद्वों का दर्शन है। इन अध्यायों के पढ़ने से मालूम होता है कि इस वन में पिशाच, राक्षस, दैत्य, नाग, असुर, गन्धर्व, यक्ष और दानव आादि अनके असभ्य जातियां बसी हुई थी। जिनके साथ अर्जुन और कृष्ण को बड़ी बड़ी लड़ाइयां लड़नी पड़ी। इनमें विजयी होने से सारे आर्यवर्त में पाण्डवों का सिक्का बैठ गया, क्योंकि उस समय तक किसी राजा महाराजा को यह हौसला नहीं हुआ था कि इनसे लड़ाई लड़कर इनको वशीभूत करें। एक ओर तो इन जाातियों ने पाण्डवों के सैनिक बल का डंका बजा दिया। दूसरी ओर महाराज युधिष्ठिर के न्याय और नीति की धूम मच गई। वेदविद्या के ज्ञाता युधिष्ठिर ने इस योग्यता से प्रबन्ध मर्यादा को स्थापित कर दिया जिससे सारे देश में उनका यश फैल गया। सारे देश की प्रजा यही चाहने लगी कि वह भी युधिष्ठिर की प्रजा बनकर उसके धार्मिक व्यवहार से लाभ उठावें।

इसका परिणाम यह हुआ कि एक एक करके अनेक प्रान्त उसके राज्य में मिलते चले गये। बहुतों को उसके भाइयों ने जीतकर मिला लिया और बहुत से संधि और मेल से वश में आ गये। सारांश यह कि थोड़े ही काल में महाराज युधिष्ठिर का राज्य दूर दूर तक फैल गया और सारे देश में कोई राजा महाराजा न रहा, जो सैनिक बल, सर्वप्रियता और सुप्रबंध में युधिष्ठिर के राज्य में थी। खांडवप्रस्थ के किसी युद्व में अर्जुन ने मय नामक एक पुरूष को जीवनदान दिया था। इस युद्व की समाप्ति पर जब अर्जुन और कृष्ण इन्द्रप्रस्थ लौट आये तो मय उनके पास आकर बोला कि इस जीवनदान के प्रतिकार में मुझे आपकी कुछ सेवा करनी चाहिए। अर्जुन बोला, ''मैंने तुम्हारी जान बचाई है इसलिए मैं तुमसे उसके बदले में कुछ नहीं ले सकता। तुम स्वतंत्र हो, जहां चाहो जाओ और प्रसन्न रहो।'' मय इसके उत्तर में बहुत आग्रह करने लगा और बोला, ''हे पाण्डुपुत्र, यद्यपि आपको यही उचित था जो आपने कहा, पर आपकी कुछ सेवा करने की मुझे उत्कृट कामना है। मैं चाहता हूं कि आपकी कोई सेवा

करके अपनी प्रवीणता दिखाऊं, क्योंकि मैं अपने को इस समय का 'विश्वकर्मा' मानता हूं।

अर्जुन ने उत्तर दिया, ''हे मय! मेरा सिद्धांत है कि मैंने तेरी जान बचाई इसलिए तुझसे बदले में कुछ न लूं, पर यदि मेरी इच्छा कुछ दूसरी है तो तु कृष्ण की कुछ सेवा कर दे। इसी से मैं संतुष्ट हो जाऊंगा।''

यह सुनकर मय कृष्ण से आग्रह करने लगा। अन्त में कृष्ण ने कहा, ''हे मय! यदि तू मेरे लिए कुछ करना चाहता है तो राजा युधिष्ठिर के लिए एक ऐसी राजसभा (महल) बना, जो संसार में अपने आपमें आदर्श हो और ऐसी राजसभा दूसरी कोई और बना सके।''

मय ने विनयपूर्वक इस आज्ञा को पूरी करने का निश्चय किया और कुछ काल में एक ऐसे विशाल और सुन्दर राजभवन का निर्माण किया जिसे देखकर सारे राजा महाराजा आश्चर्य में पड़ गए और मय के बुद्विकौशल पर वाह वाह करने लगे।

पंद्रहवां अध्याय

राजसूय यज्ञ

जब युधिष्ठिर का शासन और पाण्डवों का राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर जा पहुंचा और पांचों भाइयों ने अपने बाहुबल से सारे राजा महाराजाओं को अपने अधीन कर लिया तो चारों दिशाओं में पाण्डवों की तूती बोलने लगी। कोई भी उनकी बराबरी का दावा नहीं कर सका। उनका राजकोष धन सम्पदा से परिपूर्ण हो गया। सेना की भी यही दशा थी कि देश के शूरवीर सब आ आकर इनकी सेना में भरती हो गये। इनकी राजसभा और राजप्रसाद ऐसे थे जैसे अन्यत्र कहीं नहीं थे। ऐसी दशा में युधिष्ठिर और उसके भाइयों की यह इच्छा हुई कि राजसूय यज्ञ करके महाराजधिराज के उपाधि ग्रहण की जाये। जब महाराज ने यह इच्छा प्रकट की तो सारे धनिक वर्ग, मंत्रिपरिषद्, पंडितों एवं विद्वानों ने इसका अनुमोदन किया और कहा कि आप प्रत्येक प्रकार से इस यज्ञ को करने सामर्थ्य रखते हैं। पर फिर भी युधिष्ठिर को संतोष नहीं हुआ और उसने इसका अन्तिम निर्णय कृष्ण की सम्मति पर रखा तथा कृष्ण को बुलाने के लिए दूत भेजा। जब वे आये तो युधिष्ठिर उनकी ओर देखकर बुलाने लगा, '' हे कृष्ण! मेरे चित्त में राजसूय यज्ञ करने की इच्छा उत्पन्न हुई है, पर मेरी इच्छा मात्र से तो यह यज्ञ पूरा नहीं हो सकता। आप जानते हैं कि यह यज्ञ कैसे किया जाता है। केवल वही पुरूष इसे कर सकता है जिसकी शक्ति और बल असीम हो, जिसका राज्य सारी पृथ्वी पर हो और जो समस्त राजाओं का राजा हो। मुझे सब लोग इस यज्ञ के करने की सम्मति तो देते हैं, पर मैंने सारी बातों का निर्णय आप पर रखा है। कोई

तो केवल संकोच से मुझे इस बात की सम्मति देते हैं और उसकी कठिनाइयों का विचार नहीं करते। कोई अपने लाभ के विचार से ऐसी सम्मति देते हैं और कोई अन्य मुझे प्रसन्न करने के लिए कहते हैं। पर आप इन बातों से ऊपर हैं। आपने काम और क्रोध को जीत लिया है। अतः आपकी राय ही सर्वोपरि होगी। अब आप मुझे ऐसी सम्मति दें जिससे संसार का और मेरा भला हो''

श्रीकृष्ण ने इस पर उत्तर में कहा, ''हे राजन! आप सब कुछ जानते है। और प्रत्येक प्रकार से इस यज्ञ के करने के योग्य हैं, परन्तु तो भी जो कुछ मेरी समझ में आता है वह निवेदन करता हूं।''

इसके पश्चात् अपने समय के क्षत्रियों की दुर्गति का वर्णन करते हुए कहा कि क्षत्रियों में राजसूय यज्ञ करने की परिपाटी प्राचीन काल से चली आई है। केवल वही पुरूष राजसूय यज्ञ कर सकता है जो सारे राजाओं का महाराजा हो और चक्रवर्ती राज्य का स्वामी हो। मगध देश का राजा जरासंध स्वेच्छाचारी और स्वतंत्र है। अनेक राजा महाराजा उसके अधीन हैं तथा उसके कारागार में बंद पड़े हैं। जब तक जरासंध का विनाश नहीं हो जाता तब तक आप राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते। जरासंध ऐसा प्रबल और प्रतापी है कि सभी देशों के राजा उसके सामने सिर झुकाते हैं। यहां तक कि हमें भी उसी के भय से अपना देश त्यागना पड़ा। सारे देशों के वीर योद्वा उसकी सेना में एकत्र हैं फिर यह कैसे संभव है कि उसके जीते जी आप इस यज्ञ को कर सकें। यह किसी प्रकार भी संभव नहीं है ि कवह अपने होते हुए आपको राजसूय यज्ञ करने दे। इससे आपको कई पुण्य होंगे। प्रथम तो उस पापी का विनाश्ज्ञ कर अनेक असहाय बन्दियों को जीवनदान देने का पुण्य होगा, दूसरे आपको महान् यश प्राप्त होगा और आप निर्भय होकर यज्ञ कर सकेंगे।

इस कथन को सुनते ही युधिष्ठिर की सारी इच्छाओं पर पानी पड़ गया। वे फिर कहने लगा,''हे कृष्ण! यदि आप जैसे समर्थ पुरूष भी जरासंध से डरकार भाग गये तो मेरी सामर्थ्य है जो मैं उसका सामना

कर सकूं? वह केवल बलवान ही नहीं है, वरन् अन्यायी और अत्याचारी भी है। इसके अतिरिक्त इससे अशांति फैलने की भी संभावना है जिसे मैं पसन्द नहीं करता।'' राजा के इनक कायरतापूर्ण वचनों को सुनकर भीम को जोश आ गया और वह कहने लगा, ''महाराज! इसमें संन्देह नहीं कि जो पुरूषार्थहीन और निर्बल है तथा जिसके पास युद्व साम्रगी नहीं, यदि वह अपने से सबल शत्रु से लड़ाई ठानेगा तो मुंह की खाएगा ही । पर जो राजा सावधान और नीति से युक्त है, चाहे वह निर्बल भी है, तथापि अपने शत्रु पर विजयी हो जाता है। आपके राज्य में कृष्ण के समान दूसरा नीति को जानने वाला नहीं है। बल में कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता और अर्जुन तो दुर्जय है ही। जैसे तीन प्रकार की अग्नि के मिलने से यज्ञ होता है वैसे ही इन तीनों के मिल जाने से निश्चय ही जरासंध का नाश होगा।

भीम के इस कथन को सुनकर कृष्ण बोले, ''अल्पबुद्वि या विचारहीन मनुष्य बिना परिणाम को विचारे अपनी आकांक्षाओ को पूरा करने में लग जाते हैं, पर फिर भी कोई शत्रु इस स्वेच्छाचार या अल्पबुद्वि के कारण उस पर दया नहीं करता। इसलिए कोई काम बिना विचारे नहीं करना चाहिए। इससे पहले कृतयुग में पांच महाराजाओं ने अपने अपने गुणों से चक्रवर्ती राजा की उपाधि पाई। किसी ने कर छोड़ देने से, किसी ने दया और न्याय से प्रजा को वश में करने से , किसी ने अपने तपोबल से और किसी ने अपने बाहूबल से। परन्तू तुम एक गुण से नहीं, वरन् इन सब गुणों से चक्रवर्ती राजा कहलाने के अधिकारी हो। तू बड़भागी और प्रतापी है जो अपनी प्रजा की हर तरह से रक्षा करता है। तू क्षमाशील और बुद्विमान् भी है। पर दूसरा राजा जरासंध भी इस उपाधि का दावेदार बना है। उसके बल की थाह इसी से लग जाती है कि उसने क्षत्रियों के 100 को पराजित किया है और कोई उसका सामना नहीं कर सका। वह अत्यन्त अभिमानी है। जो राजा हीरे और मोती धारण करते हैं वे उन्हें उसे भेंट करते हैं तो भी वह प्रसन्न नहीं होता, क्योंकि वह आरम्भ से ही दु:शील है। सबसे बड़ा और सबसे कर लेता है। किसी की सामर्थ्य नहीं, जो उसका सामना कर सके। बन्दीगृह में पड़े हुए अनेक राजा अपने

जीवन के दिन काट रहे हैं। तथापि हे महाराज! यह याद् रखना चाहिए कि रणक्षेत्र में वीर गति पाने वाला क्षत्रिय सीधा स्वर्ग को जाता है। इसलिए हम सब मिलकर जरासंध से युद्व करें। 86 राजघरानों को वह मिट्टी में मिला चुका है। 100 घरानों में अब केवल 14 बचते हैं। जब ये 14 भी उसके अधीन हो जायेंगे तो वह नरमेध यज्ञ आरम्भ करेगा। जो पुरूष उसको इस काम से रोकेगा उसका पराभव होगा। इसलिए जो जरासंध का दमन कर सकेगा वही राजाओं का महाराजा और राजसूय यज्ञ करने का अधिकारी होगा।''

महाराज कृष्ण के कथन को सुनकर युधिष्ठिर कहने लगे, ''हे कृष्ण, यह कैसे हो सकता है कि मैं चक्रवर्ती राजा की पदवी के लालच में आकर तुमको जरासंध से लड़ने के लिए भेजूं? अर्जुन और भीम मेरे दोनों नेत्र के समान हैं और आप! हे कृष्ण, मेरे ह्रदय रूप हो। यदि मुझसे मेरे नेत्र और मेरा ह्रदय पृथक् कर दिया जावे, तो मैं किस प्रकार जीवित रह सकता हूं? जरासंध की सेना को तो यमराज भी लड़ाई में हरा नहीं सकते। तुम या तुम्हारी सेना क्या चीज है। मुझे तो इस काम में भलाई नहीं दिखाई देती। ऐसा न हो कि परिणाम और का और ही हो जाये। इसलिए मेरी सम्मति है किइस काम में हाथ न डाला जावे। हे कृष्ण! मेरी समझ में इससे अलग रहना ही बुद्विमानी है, क्योंकि इसका पूरा होना अत्यन्त कठिन है।''

यह सुनकर अर्जुन बोला, ''हे राजन्! क्षत्रिय का धर्म है किवह अपने बाहुबल से शत्रुओं का हनन करे तथा सदा अपना यश और अपना प्रसार बढ़ाता रहे। क्षत्रिय के गुणों में शूरता सबसे बढ़कर है। वीरों के कुल में जन्म लेकर जो कायर हुआ, वह घृणा के योग्य है। विद्वानों के समीप मनुष्य के लिए कुलीन वंशज होना यद्यपि सबसे बढ़कर है परन्तू यदि कोई वीर ऐसे वंश में जन्म ले, जिसे वीरों के जन्म देने का पहले सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था तो समझना चाहिए कि वह उससे भी बढ़कर है, जिसने वीरों के वंश में जन्म लिया है। वीर सदा अपने शत्रु पर जय पाता है। परन्तू जो पुरूष वीरता के भरोसे असावधानी से काम करता है वह सदा सफल नहीं होता। इसी से वीर या बलवान पुरूष कभी कभी बलहीन के

हाथों मारे जाते हैं। जैसे बलहीन पुरूष नीचता का शिकार हो जाता है, उसी तरह कभी कभी बलवान् अपनी मुर्खता से मारा जाता है। इसलिए जो राजा विजयी होने की इच्छा रखें, उसे इन दोनों बातों से बचना चाहिए। इसलिए हे राजन! यदि हम राजसूय यज्ञ करने के लिए जरासंध का वध करें और उसके बन्दियों को छुटकारा दें, तो इससे अच्छा दूसरा काम और क्या हो सकता है। पर भय से यदि हम इस काम से भागें तो इससे हमारी मूर्खता और कायरता ही सिद्व होगी और लोग हमें कायर कहेंगे। इसलिए हे राजन्! आप लोगों को हमारे उपहार का अवसर न दें।'' फिर कृष्ण बोले,''अर्जुन ने ठीक वही कहा है, जो एक भरत सन्तान और कुन्तीपुत्र को कहना चाहिए। यह जीवन स्वप्नवत् है। इसका भरोसा नहीं कि किस समय मृत्यु आ घेरे। हमने यह भी नहीं सुना है कि लड़ाई से अलग रहने से जीवात्मा को अमरत्व प्राप्त हो जाएगा। अतएव प्रत्येक मनुष्य काा यह कर्त्तव्य है कि शास्त्रों के अनुसार अपने शत्रु पर चढ़ाई करे क्योंकि इसी से उसे शांति मिलती है। जो पुरूष बुद्विमानी से काम करता है उसको (यदि उसके पिछले कर्म खोटे नहीं हैं) निश्चय ही सफलता मिलती है। यदि दोनों के कर्म अच्छे हैं और दोनों विचार कर चलते हैं तब भी एक की जीत होगी और दूसरे की हार। परन्तू जो बिना विचारे चलेगा वह अवश्य हारेगा और यदि दोनों मूर्ख हैं तब भी आवश्यक है कि एक सफल हो, क्योंकि दोनों जीत नहीं सकते। इसलिए हम क्यों न बुद्विमानी से शत्रु पर चढ़ाई करें। जल का वेग बड़े बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ देता है। जरासंध के वीर और प्रतापी होने में कुछ सन्देह नहीं, पर क्या डर है? यदि हम भी अपने संबंधियों के लिए उससे युद्व ठानें, या तो हम युद्व में उसे मारेंगे या स्वयं लड़ाई में मर सीधे स्वर्ग का रास्ता लेगें।''

जब युधिष्ठिर ने देखा कि भीम, अर्जुन और कृष्ण सब इस लड़ाई के लिए बद्वपरिकर हैं तो कृष्ण से उसने जरासंध का इतिहास पूछा। कृष्ण ने सारा वृत्तान्त सुनाकर अंत में कहा कि जरासंध के बड़े बड़े योद्वा जिन पर उसे बड़ा भरोसा था, वे सब मर गये हैं। इसलिए अब समय आ पहुंचा है कि उसका नाश किया जावे। किन्तू सीधी लड़ाई में उस पर विजयी होना संभव नहीं है। हमारा विचार है कि उससे मल्लयुद्व करके उसका

वध किया जावे! आप मेरी नीति और भीम के बल पर विश्वास रखें। अर्जुन हम दोनों की रक्षा करेगा। हमारा तो विश्वास है कि हम तीनों मिलकर अवश्य उसको मार डालेगें।

जब हम तीनों उसके पास जायेगें तो यह अनिवार्य होगा कि वह हममें से किसी एक से लड़े। वरन् उसके अभिमान का विचार कर कहना पड़ता है किवह भीम से ही लड़ने को तैयार होगा। बस फिर क्या है, जिस तरह मृत्यु दंभी पुरूष का विनाश कर देती है उसी तरह भीमसेन जरासंध का वध कर डालेगा। यदि आप मेरे भीतर की बात पूछते हैं या आपको मुझमें कुछ भी श्रद्वा है तो आप अब तनिक भी देर मत कीजिए औश्र अर्जुन और भीम को मेरे साथ कर दीजिए। युधिष्ठिर इस उचित परामर्श्ज्ञ को कैसे ठुकराता । कृष्ण की अन्तिम अपील ने युधिष्ठिर को पिघला दिया और उन्होंने नम्रतापूर्वक कृष्ण का हाथ चूमा और गद्गद होकर कहने लगे, '' किसकी सामर्थ्य है जो कृष्ण और अर्जुन का सामना कर सके, पुनः जब भीम उनके साथ है। प्रत्येक चढ़ाई की सफलता सेनापति की बुद्विमत्ता पर निर्भर होती है। जिस सेना का आधिपत्य कृष्ण के हाथ में हो, उसकी सफलता में क्या संदेह है? इसलिए अर्जुन! तुम्हें उचित है कि तुम कृष्ण में श्रद्वा रखकर उनको अपना नेता मानो और भीम को भी चाहिए किवे अर्जुन के तेज को अपना अग्रगामी बनायें।''

जहां नीति, तेज और शूरता ये तीन गुण एकत्र हो जाते हैं, वहां सफलता हाथ जोड़कर खड़ी रहती है।

सोलहवां अध्याय

कृष्ण, अर्जुन और भीम का जरासंध की राजधानी में आगमन

युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर अर्जुन और भीम कृष्ण के साथ अपनी राजधानी से निकले। हम पूर्व लिख चुके हैं कि कृष्ण का अभिप्राय था कि जरासंध को मल्लयुद्व करने के लिए तैयार किया जाये। इसके लिए उन्हें यह आवश्यक लगा ि कवे तीनों जरासंध के यहां जावें। परन्तू यदि वे अपने यर्थाथ वेष में गये तो उन्हें राजधानी के भीतर जाने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी, इसलिए इन तीनों ने क्षत्रिय का रूप छोड़ स्नातक का वेष धारण किया और गिरिराज की नगरी कर ओर चले। जब नगर के निकट पहुंचे तो सोचने लगे कि शत्रु के घर मुख्य मार्ग से जाना और फिर उस पर वार करना धर्म मर्यादा के विपरीत है। इसलिए यह निश्चय किया, कि किसी चोर द्वार से अंदर घुसना चाहिए। गिरिराज की नगरी के एक ओर एक ऊंची पहाड़ी खड़ी थी जो रक्षा के लिए दीवार का काम देती थी। ये तीनों उस पहाड़ी पर चढ़े और उस पर से होकर शहर में जा घुसे। स्नातक ब्राह्मण के वेष में फूलों की माला गले में पहन, देह में सुगन्धित तेल मलकर राजद्वार पर जा पहुंचे और महाराज जरासंध से भेंट करने की इच्छा प्रकट की । महाराज ने जब सुना कि तीन स्नातक ब्राह्मण मेरे द्वार पर आयेंह" तो वह शीघ्र अपने महलों से नीचे उतरा और सम्मानपूर्वक उनके सामने आ खड़ा हुआ। इन्हें देखकर वह चकित हो गया। यद्यपि इनका वेष स्नातक ब्राह्मणों का था, पर इनके प्रत्येक

अंग–प्रत्यंग से क्षात्रत्व झलक रहा था। वह भी चतुर था, उसने अपना भाव प्रकट होने नहीं दिया और पूजा करने के लिए झट आगे बढ़ा। उसके आगे बढ़ते ही दूसरी ओर से उत्तर मिला कि हम आपकी पूजा को स्वीकार नहीं कर सकते। अब तो राजा का संदेह और भी पक्का हो गया उसने उनसे पूछा कि वे कौन हैं, और क्यों इस वेष में उसके सामने आकर भी उसकी पूजा ग्रहण नही करते?

कृष्ण बोले, ''हे राजन् प्रत्येक मनुष्य को आधिकार है ि कवह स्नातकों के धर्म का अनुगामी बने। हम यद्यपिइ स समय फूलों का हार पहने हैं, परन्तू हम इस समय स्नातक धर्म में दीक्षित हैं। तथापि हम तेरे शत्रु है। और शत्रुता के भाव से ही तेरे सामने आये हैं। इसीलिए न तो हम मुख्य द्वार से तेरे नगर से आये और न हमने तेरी पूजा स्वीकार की, अपितू शत्रु के समान पहाड़ी से नगर में उतरे हैं।'' जरासंध यह उत्तर सुनकर बोला, '' हे महानुभाव! जहां तक मुझे याद आता है मैंने कभी तुम्हारी कुछ हाानि नहीं की है, फिर तु मेरा शत्रु क्यों बना? ऐसा न हो कि तू किसी भ्रम में पड़ा हो। मैं तो सदा धर्म के अनुकूल ही काम करता हूं।''

कृष्ण ने उत्तर दिया, ''हे नृप! तुमने क्षत्रिय वंश पर बड़े बड़े अत्याचार किये हैं। अनेक राजाओं को तुमने बिना प्रयोजन कारागार में बंद कर रखा है। क्षत्रिय पुत्रों से तू शूद्रों का काम लेता है। राजपुत्रों पर तू नाना प्रकार के अत्याचार करके अपने को निष्पाप समझता है। हम लोग धार्मिक हैं, धर्म हमारा जीवन है और धर्म की रक्षा करना परम धर्म की रक्षा कर सकें। यह सामर्थ्य रखकर भी तुझे तेरे बुरे कामों का दंड न देना मानो अपने आपको पाप का भागी बनाना है। अन्यायी का सिर कुचलना और पीड़ित की सहायता करना प्रत्येक क्षत्रिय का परम धर्म है। हम क्षत्रिय हैं। मेरा नाम कृष्ण है। ये दोनों मेरे साथी पाण्डुपुत्र हैं। इनमें एक का नाम अर्जुन है और दूसरे उनके भाई भीमसेन हैं। हम तुझसे मल्लयुद्व करने आये हैं। या तो तू उन सब क्षत्रियों को स्वतंत्र कर दे जिनको तूने दास बना रखा है अथवा हमसे युद्व कर। हम क्षत्रिय कुलभूषण महाराज युधिष्ठिर की

आज्ञा से तुझसे अपनी जााति का बदला लेने के लिए आये हैं। मरने से तो हमें भय नहीं क्योंकि हमें विश्वास है कि धर्मयुद्व में मरने से क्षत्रिय योद्वा स्वर्ग जाता है। यदि तू अपने आपको पृथ्वी पर महाबली समझता है तो यह तेरी भूल है। क्योंकि संसार में अभिमानी पुरूष निश्चय ही नाश को प्राप्त होता है। इस संसार में एक से एक बढ़कर प्रतिभाशाली हैं। इसलिए हे राजन! अपनी बुराइयों को छोड़, परमेश्वर का डर मान और इन बन्दी राजाओं को छोड़ दे अथवा हमसे युद्व कर।''

कृष्ण की इस लम्बी और प्रभावशाली वक्तृता को सुनकर जरासंध हंसा और बोला, ''हे कृष्ण, तू जानता है कि मैं बिना युद्व में पराजित किये किसी को भी बन्दी नहीं बनाता। फिर मैं ऐसा भीरू भी नहीं कि किसी की धमकियों से उन्हें स्वतंत्र कर दूं। मैं युद्व के लिए तैयार हूं। या तो सेना सहित मुझसे युद्व करो या तुममें से एक या दो या तीन मिलकर मुझ अकेले से लड़ो।''

इस पर कृष्ण ने कहा, ''आप ही बताइये कि हम तीनों में से आप किससे युद्व करेंगे? यह सुनकर जरासंध ने कृष्ण और अर्जुन की ओर देखा तो ये दोनों उस दुर्बल जंचे क्योंकि उनका शरीर दुबला पतला था। इसलिए उसने उन दोनों से युद्व करना अपनी मर्यादा से बाहर समझकर भीम से युद्व करना पसंद किया।

जब भीम और जरासंध की जोड़ी ठहर गई तो राजा जरासंध ने बहुत से ब्राह्मणों को यज्ञ करने के लिए कहा और स्वयं राजमुकुट उतार केश बांधकर लड़ने के लिए मैदान में उतर आया। उधर से भीम भी मुकाबले के लिए आ गया ओर दोनों में हाथापाई होने लगी। चौदह दिन तक मल्लयुद्व हुआ और दोनों ने ही अपने अपने दांव पेंच का अन्त कर डाला, पर कोई पराजित नहीं हुआ। निदान चौदहवें दिन जरासंध का दम टूट गया। जरासंध को थका हुआ देखकर कृष्ण ने भीम को ललकारकर कहा कि थके हुए शत्रु पर हाथ चलाना उचित नहीं। इस पर भीम ने कहा, '' यह नहीं मानता कि मैं थक गया हूं, और अभी लड़ने को मेरे सामने खड़ा है। अतएव मैं भी किस तरह हट सकता हूं।'' लड़ाई फिर होने लगी

और भीम ने जरासंध को उठाकर इस जोर से भूमि पर दे मारा कि उसका काम वहीं तमाम हो गया। जरासंध के मरते ही कृष्ण ने भीम व अर्जुन को रथ पर सवार कराया और आप सारथी बनकर दुर्ग में प्रवेश किया। उन्होंने सबसे पहले उन राजाओं को बन्दीगृह से छुटकारा दिलाया जो वर्षों से उसमें पड़े सड़ रहे थे। फिर उन सबको अपने साथ लाकर नगर से बाहर एक शिविर में रखा।

इन सब राजाओं ने कृष्ण के समक्ष हीरे आादि रत्नों की भेंट चढ़ाई प्रसन्नापूर्वक अपने लिए कुछ सेवा का आदेश करने की याचना की। इस पर कृष्ण महाराज ने उत्तर दिया, महाराजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं। आपको चाहिए कि उनको इस यज्ञ में सहायता देकर उनके प्रति अपनी भक्ति को सिद्व करें। इस बात को सुनकर सारे राजाओं ने एकमत होकर इसे स्वीकार किया। जरासंध का पुत्र सहदेव भी भेंट लेकर उपस्थित हुआ और महाराज कृष्णचन्द्र ने प्रसन्न होकर सबके सामने उसका राजतिलक कर दिया और पिता की गद्दी पर बिठाया। इन कामों से निश्चित होकर वे वहां से चले आये।

यह सारा प्रसंग प्राचीन भारतवर्ष की युद्वकला की जानकारी देता है।

(1) महाराज कृष्ण का स्नातक के वेष में फूल

(2) सदर फाटक से नगर में न प्रवेश करना।

(3) जरासंध की पूजा न लेना और निर्भय होकर अपने विचार प्रकट करना

(4) जरासंध का भी उनकी इस कार्यवाही पर क्रुद्व न होना और युद्व की चुनौती को स्वीकार करना।

(5) जरासंध के मारे जाने पर उसके पक्ष वालों का अपनी हार मानना और कृष्ण आदि पर चढ़ाई न करना।

(6) कृ ष्ण का जरासंध के पुत्र को गद्दी पर बिठाना, इत्यादि ऐसी घटनाएं हैं जो आर्यजाति की उच्च सभ्यता को भली भांति प्रमाणित करती है।

सत्रहवां अध्याय

राजसूय यज्ञ का आरम्भः

महाभारत की भूमिका

राजा जरासंध पर जय प्राप्त करके कृष्ण आदि महाराज युधिष्ठिर की राजधानी में लौट आये। युधिष्ठिर ने यथायोग्य उनका सम्मान किया औ गद्‌गद हो कृष्ण को गले से लगाया। अब यज्ञ की तैयारियां होने लगी। सभामंडल बड़ी धूमधाम से सजाया गया। राजा महाराजाओं के पास दूत भेजे गये। भोजन आदि का पूरा प्रबन्ध किया गया। दूर दूर से वेद पाठी विद्वान ब्राह्मण निमंत्रित हुए। हवन की सामग्री में बहुमूल्य सुगन्धी वाले एकत्र किये गये। अथितियों के निवास के लिए सुन्दर महल सजाये गये और कोसों तक डेरे तथा तंबू लगाये गये।

धृतराष्ट्र, भीष्म, विदूर, द्रोण, दुर्योधन, कर्ण तथा दूसरे भ्रातृगण एकत्रित हुए। अब जब तैययारियां पूरी हो गई तो भाई–बन्धुओं में से यज्ञ के कार्यकर्ता नियत किये गये। श्रीकृष्ण ने अपने लिए यह काम स्वीकार किया कि जो ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिए यज्ञशाला में आयेंगे उनके चरण धो देंगे और यज्ञशाला पर पहरा भी देंगे। इस प्रकार जब सब तैयारियां समाप्त हुई और यज्ञ के प्रारम्भिक कृत्य होने लगे तो अब यज्ञकर्ता की ओर से सभी अतिथियों को भेंट देने का समय आया। इस विषय में

भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा, ''हे युधिष्ठिर! अतिथियों को भेंट देने का समय आ पहुंचा है। अब तुम्हें उचित है कि प्रत्येक को यथायोग्य भेंट प्रदान करो। छः प्रकार के पुरूष तुमसे इस सम्मान को पाने के अधिकारी हैं :(1) गुरू, (2) यज्ञ करने वाले पंडित, (3) सम्बंधी (4) स्नातक ब्राह्मण (5) मित्र, (6) राजे–महाराजे। सबसे पहले उस पुरूष के सामने भेंट रखो जिसे तुम इस सारी सभी में श्रेष्ठ समझते हो।'' मुख से कह देना या लेखनी से लिखना तो सहज है, पर ऐसी प्रतिष्ठित सभा में जहां विद्वान् और वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण और शूरवीर क्षत्रिय राजा–महाराजा बैठे थे, वहां यह निर्णय करना बड़ा कठिन था कि कौन इन सबमें श्रेष्ठ और सबसे अधिक गौरव का पात्र है।

एक ओर धृतराष्ट्र और भीष्म जैसे सज्जन और ज्येष्ठ पुरूष, देसरी ओर द्रोण जैसे आचार्य, तीसरी ओर शूरवीर और धनाढ्य राजा–महाराजा थे। युधिष्ठिर चकित था कि ऐसी भारी सभा में मैं किसे सबका शिरोमणि मांनू। निदान उसने महाराज भीष्म से प्रार्थना करते हुए कहा कि आप ही मुझे बताइये कि इस महती सभा में कौन महापुरूष मुझसे पहले सम्मान (अर्ध्य) पाने का अधिकारी है।

भीष्म ने उत्तर दिया, ''हे युधिष्ठिर! इस सभा में कृष्ण सूर्य के समान चमक रहे है। वही सबसे बढ़कर गौरवपात्र हैं। उठिये! और सबसे पहले उन्हीं को भेंट (अर्ध्य) दीजिए।''

युधिष्ठिर ने कहा, ''तथास्तु।''

भीष्म के यह कहते ही जहां एक ओर आनन्द की ध्वनि गूंज उठी, वहां दूसरी ओर मानो वज्र टूट पड़ा। विघ्नतोषी लोगों की आशाओं पर पानी फिर गया, और सन्नाटा छा गया। तत्काल सबको लगा कि बस कुछ बखेड़ा अवश्य होगा। अतिथियों की मंडली में चेदि देश का राजा शिशपाल बैठा हुआ था। यह महाराज कृष्णचन्द्र का मौसेरा भाई था पर सदा से ही जरासंध का पक्ष लेकर कृष्ण से लड़ता आया था। भीष्म के वचन सुनकर वह क्रोधान्त हो गया और भीष्म, युधिष्ठिर तथा कृष्ण को बुरा–भला कहने लगा। उसके कथन का सार यह था कि युधिष्ठिर और

भीष्म को सर्वप्रथम कृष्ण को अर्घ्य देकर सारी सभा का अपमान किया है। कृष्ण कदापि इस मान के योग्य नहीं हैं। न तो वे मुकुटधारी राजा है और न वयस् में बड़े हैं। न वे आचार्य हैं और न सबसे बलवान् योद्वा हैं। फिर क्यों उन्हें इस प्रकार सबसे ऊंचा आसन प्रदान किया गया? फिर शिशुपाल ने उपस्थित राजाओं के नाम लिए और भीष्म को चुनौती देते हुए कहा कि आप की बताइये इन सबकी उपस्थिति में क्यों कृष्ण की यों प्रतिष्ठा की गई? उसने कहा कि यदि वयस् का विचार हो तो उसके पिता वसुदेव, धृतराष्ट्र, द्रुपद, भीष्म और कृपाचार्य, आदि ज्येष्ठ पुरूष उपस्थित है। यदि विद्या देखी जाये तो द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा दूसरे महान् विद्वान यहां उपस्थित हैं। राजाओं में भी बड़े बड़े वीर योद्वा राजा दीख रहे हैं। फिर भीष्म ने इस मान के लिए कृष्ण का नाम ही क्यों लिया जो न आचार्य है, न राजा है, न वयस् में बड़ा और न महाबली है।

उसने आगे कहा, जिसने छल से राजा जरासंध का वध किया, बड़े दुख की बात है कि उसे अर्घ्य देकर भीष्म ने पक्षपातपूर्ण अधर्म का काम किया है और सबसे अधिक दुख इस बात का है कि युधिष्ठिर ने धर्म का अवतार होकर भी इस निर्णय को मान लिया। पुनः धिक्कार है कृष्ण पर जिसने इस अधम व्यवस्था को स्वीकार किया। इसके पश्चात् महाभारत में लिखा है कि वह अपने साथियों सहित सभा से उठकर चल दिया। युधिष्ठिर उसके पीछे गया और मनाने लगा। उसने कहा, ''शिशुपाल! देखो, जितने विद्वान और योद्वागण यहां बैठे हैं वे सब इस बात को मानते हैं कि कृष्ण ही इस सम्मान के उपयुक्त हैं। फिर तू क्यों ऐसे कठोर वचन बोलता है?''

भीष्म ने भी अपने उत्तर में कहा कि शिशुपाल धर्म–मार्ग को नहीं जानता क्षत्रियों की यह मर्यादा है जो शत्रु पर जय पाकर भी उसे छोड़ दें वह उसका गुरू हो जाता है। कृष्ण न केवल महाबली क्षत्रिय है जिन्होंने हजारों क्षत्रियों को स्वतंत्रता प्रदान की है, वरन् वे वेदों के ज्ञाता और विद्वान हैं और इसलिए इन दोनों गुणों से संयुक्त होने से हम सबमें से वे

पुनः सहदेव कहने लगा, ''यदि इस सभा में कोई पुरूष द्वेषवश कृष्ण के तेज और मान को सहन नहीं कर सकता तो उसके सिर पर मेरा पैर है। यदि वह वीर है तो मैदान में आवे, नही ंतो सबको उचित है कि भीष्म के निर्णय को स्वीकार करें।'' निदान ऐसा ही हुआ। पर जब पाण्डवों ने कृष्ण को भेंट चढ़ाई तो शिशुपाल फिर भीष्म और कृष्ण को बतुकी बातें सुनाने लगा, जिसका अंत इस प्रकार हुआ कि दोनों दलों में विवाद आरम्भ्ज्ञ हो गया। एक ओर पाण्डव पक्ष वाले कृष्ण की स्तुति करते थे और दूसरी ओर शिशुपाल उनके अवगुणों का वर्णन करता था। सारांश यह कि इस प्रकार कुछ समय तक विवाद चलता रहा। बिचारा युधिष्ठिर दुखित हो दोनों पक्षों को संबोधित कर रहा था, पर उसकी कोई सुनता ही नहीं था। निदान उसने भीष्म से कहा कि पितामह! इस झगड़े को अब आप ही शांत कीजिए। भीष्म ने उत्तर दिया कि जब शिशुपाल और उसके पक्ष वाले समझने से भी नहीं मानते तो फिर इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि यदि उनमें से कोई अपने आपको कृष्ण से अधिक शक्तिशाली समझे तो वह उनसे युद्व करे और परिणाम देख ले। आम ही निर्णय हो जायेगा कि कृष्ण इस मान के योग्य है या नहीं अब शिशुपाल ने जी खोलकर कृष्ण और भीष्म को गालियां दी और अन्ततः बोला, ''अच्छा, यदि कृष्ण वीर है तो मेरे साथ युद्व करे।'' युद्व में कृष्ण की जय हुई और शिशुपाल मारा गया। शिशुपाल के सारे पक्षपाती अपना सा मुंह लेकर रह गये। महाराज युधिष्ठिर ने पहले शिशुपाल का दाह–संस्कार किया फिर उसके पुत्र का राजतिलक करके राजसूय यज्ञ रचाया। यज्ञ की समाप्ति पर जब सब अतिथि विदा हो चुके तो कृष्ण भी युधिष्ठिर और द्रौपदी से द्वारिका लौअ आये।

अठारहवां अध्याय

कृष्ण–पाण्डव मिलन

प्रत्येक हिन्दु इस बात को भली प्रकार जानता है कि राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर दुर्योधन और उसके पक्ष वालों ने धूर्तता से महाराज युधिष्ठिर को जुआ खेलने पर तत्पर करके उनका सारा राजपाट छीन लिया। यहां तक कि उसने अपनी पत्नी और स्वयं को दांव पर लगा दिया तथा यह दांव भी हार गया। इसके पश्चात् दुःशासन का द्रौपदी को घसीटकर सभा में लाना, द्रौपदी का विलाप करना और सभा में कोलाहल मचना इत्यादि वे घटनाएं ऐसी हैं जिनका कृष्ण के जीवन से कोई संबंध नहीं है। यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अन्त में महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा से पाण्डवगण द्रौपदी सहित बारह वर्ष के लिए देश से निकाले गये और अपना शहर छोड़ वन में विचरने लगे। जब इनके भाई बंधु तथा इष्ट मित्रों को इस विपत्ति का समाचार मिला तो वे एक एक करके इनसे मिलने और सहानुभूति प्रकट करने के लिए आने लगे। महाराज कृष्ण ने जब यह वृत्तान्त सुना तो वे बड़े दुखित हुए और बहुत से साथियों को लेकर इनसे मिलने को चले।

युधिष्ठिर और अर्जुन इत्यादि की बुरी दशा देखकर वे बड़े क्रुद हुए, पर जब द्रौपदी के सामने गये तो उसने विलाप के द्वारा पृथ्वी–आकाश एक कर दिये। वह रो–रोकर अपने पति और दूसरे सम्बन्धियों को बुरा भला कहने लगी। उसने अपने अपमान की कथा सुनाकर भीम और अर्जुन की वीरता पर आक्षेप किया और अंत में यहां तक कह दिया कि मेरे लिए तो ये सब संबंधी और मित्र मर गये, क्योंकि जब शत्रुओं ने

भरी सभा में मेरा अपमान किया तो किसी ने मेरी सहायता नहीं की।

द्रौपदी के इस विलाप को सुनकर कृष्ण ने उसके समक्ष प्रतिज्ञा की,''हे कृष्ण! मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि तेरे शत्रुओं से इस अनीति का बदला लूंगा, तुझे तेरा राजपाट पुनः दिलाकर राज—सिंहासन पर बिठाऊंगा। हे द्रौपदी! तू रो मत। चाहे आकाश टूट पड़े, धरती फट जावे, पर मेरा प्रण मिथ्या न होगा।''

इस प्रकार उसे सम्बोधन कर कृष्णचन्द्र महाराज युधिष्ठिर के पास आये और उनसे बहुत कुछ उपदेश किया। वे उनके समक्ष जुआ खेलने की हाति बताते रहे।

उन्नीसवां अध्याय

महाराज विराट के यहां

पाण्डवों के सहायकों की सभा

धृतराष्ट्र ने जब युधिष्ठिर को जुए में पराजित होने के कारण बारह वर्ष का `दश्ज्ञनिकाला दिया तो उसके साथ यह भी बन्धन लगाया था कि ततरहवें वर्ष में पाण्डुपुत्र ऐसी सेवावृति से पेट भरेंगे ताकि दुर्योधन और उसके साथियों को उनका पता न लगे। बारह वर्ष का देशनिकाला समाप्त हो जाने पर पांचों पाण्डवों ने द्रौपदी और अपने पुत्रों सहित महाराज विराट के यहां नौकरी कर ली। उन्होंने ऐसी युक्ति से अपने को छिपाया कि बारह महीने तक विराट को पता नहीं लगा कि उसके किंकरों में पांच क्षत्रिय कुल भूषण वचनबद्व होकर उसकी सेवा–टहल कर रहे हैं। उधर दुर्योधन को बहुत खोज करने पर भी उनका कुछ पता न चला। देशनिकाले के दिनों में इनके भाई बन्धु इनसे भेंट करने आते और इनकी सहायता करते थे। कृष्ण और उनके भाई बलराम भी इनके पास कई बार आये और बहुत दिनों तक उनके साथ रहे। एक बार बलराम ने यह प्रस्ताव किया कि युधिष्ठिर इत्यादि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वनवास में रहें पर उनके सम्बंधी और मित्रगण दुर्योधन पर चढ़ाई करके उससे उनका देश लौटा लें और उसे अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को प्रबन्ध के लिए सौंप दें। कृष्ण ने उत्तर में निवेदन किया कि जो कुछ आप कहते हैं। वह सम्भव तो है पर पाण्डवों को यह कब स्वीकार होगा िकवे दूसरे के परिश्रम का फल खुद भोगें और इस प्रकार अपने क्षत्रिय धर्म पर बट्टा लगायें।

कृष्ण के इस कथन पर युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि मुझे राज्य की इतनी इच्छा नहीं जितना धर्म का आग्रह है। यदि मुझे स्वर्ग का राज्य भी मिले तो भी मैं सच्चाई से नहीं हट सकता। थोड़े से जीवन के लिए मैं अपना प्रण भंग नहीं कर सकता।

युधिष्ठिर और उसके भाइयों ने बड़े कष्ट उठाये और विपत्ति तथा आपदाओं को सहन किया। अपनी प्रिय धर्मपत्नी का अपमान भी अपनी आंखों से देखा। निम्न समझी जाने वाली सेवा करना पसन्द किया, पर अपने वचन का पूरे तौर से निर्वाह किया और तेरह वर्ष तक राजपाट की ओर ध्यान तक न किया।

प्रिय पाठक! लीजिए तेरहवां वर्ष समाप्त होता है, और महाभारत युद्व की नींव पड़ने लगती है। आइये, इस महान् युद्व की कथा सुनिये। इस लड़ाई का प्रथम दृश्य आज महाराज विराट के महलों में दिखाई दे रहा है। भारतवर्ष के विख्यात राजा महाराज और विद्वान ब्राह्मण यहां एकत्र हैं और सोच विचार कर रहे हैं कि युधिष्ठिर का राज्य उसे दिलाने के लिए अब क्या कार्यवाही करनी चाहिए। इस सभा को युद्व–समिति कहे, राजनीतिक परिषद् कहें या धर्मसभा कहें। आपकी जो इच्छा हो आम इसका नाम रखें, क्योंकि इसमें सभी पक्षों के कुछ कुछ भाव पायें जाते हैं। हर एक पक्ष को पूरे तौर से समझने और उससे आनन्द उठाने के लिए अपने को तैयार कीजिए क्योंकि इसमें भाग लेने वाले सभासदों की वक्तृतांए गूढ़ और सारगर्भित हैं। उस समय के राजाओं में से जितने भी युधिष्ठिर के पक्ष में थे वे सब यहां विद्यमान हैं। कृष्ण भी अपने पिता और माता सहित यहां बैठे दीख पड़ते है। सबसे पहले कृष्ण ही बोले ''युधिष्ठिर की आपत्कथा आप सब महाशयों का विदित है। दुर्योधन ने युधिष्ठिर और उसके भाइयों का नाश करने के लिए जो जो युक्तियां समय समय पर की हैं, वह भी आप सब भली भांति जानते हैं। युधिष्ठिर ने जिस प्रकार उसका सामना किया तथा लड़ाई और सन्धि में भी धर्माचरण किया, वह भी आपको ज्ञात है। सारे आर्यावर्त में किसी की शक्ति नहीं जो अर्जुन और भीम का सामना करके युद्व में उन पर जय पा सके। तथापि युधिष्ठिर अधर्म, अन्याय और अनीति से किसी का

राजपाट नहीं लेना चाहते। अन्याय से यदि उन्हें स्वर्ग का राज्य भी मिले, तो वह उसे अंगीकार नहीं करेंगे और न्याय से यदि उन्हें एक गांव मिले तो वह उसी पर संतोष कर लेंगे। युधिष्ठिर और उनके भाइयों ने धृतराष्ट्र से जो जो प्रतिज्ञाएं की उनका एक एक अक्षर पूरा कर दिखाया, इसीलिए अब धृतराष्ट्र को उचित है कि उनका राजपाट उन्हें लौटा दे। पर हम नहीं कह सकते कि दुर्योधन का आन्तरिक अभिप्राय क्या है, इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि एक माननीय, सदाचारी तथा धर्मात्मा दूत उसके पास भेजा जाये, तो दुर्योधन का अभिप्राया जानकर उसे इस बात के लिए राजी करे कि वह युधिष्ठिर का आधा राजपाट उसे लौटाये और उससे मेल कर ले'' कृष्ण के ज्येष्ठ भाई बलराम ने उस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। में अपना सारा राजपाट गंवा दिया। उसने भी कौरवों से मेल कर लेने पर ही जोर दिया।

इन दोनों वक्तृताओं को सुनकर राजकुमार सात्यकि नामक यादव उठा और बोला, ''संसार में दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं, वीर और कायर। जिस वृक्ष में फल लगते हैं उसकी कोई कोई शाखाएं मुरझाई होती है और उनमें कभी फल नहीं लगते। मुझे इन दोनों के कथन पर दुःख नहीं किन्तू मुझे उन पर खेद होता है, जो मौन साधे उनकी वक्तृता को सुन रहे हैं। क्या कोई विचारवान् पुरूष मान सकता है, कि जुआ खेलना युधिष्ठिर का अपराध था? क्षत्रिय का धर्म है, यदि उससे कोई वरदान मांगे तो वह उससे मुंह न मोड़े। दुर्योधन ने चालाकी से ऐसे पुरूषों को युधिष्ठिर से बाजी खेलने के लिए आगे किया जो इस विद्या में निपुण थे। युधिष्ठिर धर्मानुसार खेलता रहा और हार गया। इसमें उसका कोई अपराध नहीं। उसने अपने वचन को अन्त तक पूरे तौर पर निभाया। क्या ऐसी दशा में अब यह उचित है ि कवह दुर्योधन से भिक्षा मांगे और निर्बल या अभ्यागत के समान सन्धि का प्रार्थी हो।

''फिर हम जानते हैं कि दुर्योधन कितना दुराचारी और झूठा है। क्या आपने नहीं सुना, यद्यपि युधिष्ठिर ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तेरह वर्ष का वनवास पूरा कर दिया, पर दुर्योधन अब यह कहता है, कि तेरहवें वर्ष

में हमने उनको पहचान लिया। भीष्म और द्रोण उसे बहुत समझाते हैं पर वह नहीं मानता। अतएव मेरी सम्मति में तो उसे लड़ाई की सूचना दे देनी चाहिए। यदि वह युधिष्ठिर के पैरों पड़ें, तो ठीक है, नही ंतो उसे उसके साथियों सहित यमलोक में पहुंचा दिया जाये। आज किसमें सामर्थ्य है जो अर्जुन और भीम जैसे योद्वाओं से युद्व करे। इसलिए हे सज्जनों! उठो और जब तक दुर्योधन को दंड न दे सको, दम न लो।''

फिर महाराज द्रुपद कहने लगे, ''हे वीर! मैंने तुम्हारी वक्तृता सुनी। मैं तुमसे सहमत हूं। मेरी भी सम्मति है कि दुर्योधन यों ही सन्धि के लिए राजी नहीं होगा। धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के वश में है और वह उनका साथ देगा। भीष्म और द्रोण की सम्मति युक्तियुक्त है, पर मैं नही मान सकता कि दुर्योधन से चापलूसी की बातें करने से कुछ लाभ होगा। गधे के साथ नरमी करने से कार्य सिद्व हो सकता है, पर भेड़िया नरमी के बर्ताव का पात्र नहीं। अतएव मेरी सम्मति है कि हम शीघ्र युद्व की तैयारियां आरम्भ कर दें, और अपने इष्ट मित्रों तथा सम्बन्धियों को पत्र लिख दें कि वे अपनी अपनी सेना सहित तैयार रहें इस बीच में एक दूत दुर्योधन के पास अवश्य भेजें। मेरे पुरोहित मौजुद हैं, इन्हें दूत बनाकर भेज दिया जाए और वह दुर्योधन से जाकर सब बातें कहे।''

महाराज द्रुपद की सम्मति को सबने पसंद किया। सभा समाप्त हुई दूत रवाना कियिा गया और कृष्ण तथा बलदेव द्वारिकापुरी लौअ आये।

बीसवां अध्याय

दुर्योधन और अर्जुन का द्वारिका–गमन

महाराज विराट के महल में जो सभा हुई उसकी सूचना दुर्योधन को भी पहुंच गई जिस पर उसने विचार किया कि किसी प्रकार कृष्ण को पाण्डवों की सहायता करने से रोकना चाहिए। अतएव वह द्वारिकापुरी की ओर चला। उसने यह सोच लिया था कि यदि मेरी प्रार्थना स्वीकार न की गई तो मुझे सहायता का प्रार्थी हुआ था, पर उन्होंने मेरी सहायता नहीं क और मेरे विरूद्व लड़े। पर संयोग ऐसा बना कि जिस दिन दुर्योधन द्वारिका पहुंचा उसी दिन अर्जुन भी वहां पहुंच गया। जिस समय दुर्योधन कृष्ण के महल में पहुंचा उस समय कृष्णचन्द्र सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने एक आसन पर बैठ गया। इतने में अर्जुन भी वहां आ पहुंचा और उनके पैताने ओर देखा तो दुर्योधन को भी सिरहाने बैठा पाया। दोनों ओर से जब कुशल–क्षेम पूछी जा चुकी तो महाराज दुर्योधन बोले,''हे कृष्ण, मैं तुमसे पाण्डवों के विरूद्व युद्व में सहायता मांगने हेतू आया हूं। मैं पहले आया हूं इसलिए पहले मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी चाहिए। हम दोनों का आपसे समान संबंध है और हम दोनों ही आपके मित्र हैं। ऐसी दशा में मेरी प्रार्थना पहले की गई और वह आपके द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए।''

इस पर कृष्ण बोले, '' हे दुर्योधन! तूमने जो कहा वह सत्य है। यद्यपि

तुम पहले आये पर मेरी दृष्टि तो पहले अर्जुन पर ही पड़ी। इसके अतिरिक्त अर्जुन तुमसे छोटा है। मुझे दोनों की ही सहायता करनी है। एक ओर मेरी सारी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला बिना किसी शस्त्र के हूं। मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि इस लड़ाई में शस्त्र नहीं चलाऊंगा। अब मै। पहले अर्जुन को अवसर देता हूं कि वह इनमें से एक को चुन ले कि क्या वह मेरी सारी सेना को लेना पंसद करता है या मुझे। यदि उसने मुझ अकेले की सहायता चाही तो मेरी सारी सेना तुम्हारी सहायता को प्रस्तुत है और यदि उसने मेरी सेना पसंद की तो मैं अकेला तुम्हारी सेवा करने का उपस्थित हूं।'' दुर्योधन ने इस बात को पसंद किया। इसलिए जब अर्जुन से पूछा गया तो उसने उत्तर दिया कि मुझे महाराज कृष्णचन्द्र की ही सहायता चाहिए। मुझे उनकी सेना नहीं चाहिए। अर्जुन के ऐसा कहने पर दुर्योधन भीतर ही भीतर प्रसन्न हुआ और उसने श्रीकृष्ण की सारी सेना सहायता के लिए ले जाना स्वीकार कर लिया। बलराम के साथ भी दुर्योधन ने यही चाल चली, पर उन्होंने कहा कि मैं किसी पक्ष को सहायता देना नहीं चाहता। जब दुर्योधन विदा हो चुका तो कृष्ण ने अर्जुन से पूछा, '' हे राजपुत्र! तूने मेरी व्यक्तिगत सहायता को मेरी सेना से क्यों श्रेष्ठ समझा?'' अर्जुन ने कहा, ''आपकी सारी सेना से युद्व करने के लिए तो मैं अकेला काफी हूं। संसार में एक बुद्विमान् पुरूष लाख मूर्खो से बढ़कर शक्ति रखता है। आपने इस युद्व में शंख को हाथ में न लेने की प्रतिज्ञा की है, अतएव मेरी इच्छा है कि आप मेरे सारथी बनें। यदि मेरे पास आप जैसे सारथी हों तो फिर किसमें सामर्थ्य है जो मेरा सामना कर सके और मुझसे बचकर चला जाये।''

कृष्ण जी ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया।

इक्कीसवां अध्याय

संजय का दौत्य कर्म

महाराज द्रुपद ने जो दूत पाण्डवों की ओर से धृतराष्ट्र के पास सन्धि के लिए भेजा था उसे कुछ सफलता नहीं हुई और दोनों ओर से युद्ध की तैयारियां इस तीव्रता से होती रहीं जिससे सबको विश्वास हो गया कि आर्यावर्त की सारी वीरता और श्रेष्ठता का इसी लड़ाई में अन्त हो जाएगा। दोनों ओर के शूरवीर मत हाथी के समान झूमते फिरते थे। शंख, घड़ियाल, घंटे आादि की ध्वनि से आकाश पाताल गूंज रहे थे। घोड़ो की हिनहिनाहट से कान में पड़ी बात भी सुनाई नहीं देती थी। धन दौलत के लालच से भाई भाई के खून का प्यासा हो रहा था। चाचा भतीजों के प्राण का ग्राहक बन गया। भीष्म वचनबद्ध होकर उन भतीजों के विरूद्व लड़ने पर उतारू हुए, जिनके लिए उनके चित्त में गाढ़ा प्रेम था और जिन्हें वह उचित मार्ग पर समझते थे। द्रोण विचारते थे कि इस लड़ाई में उनके सारे शिष्य आपस में लड़ मरने पर उतारू हुए हैं। यद्यपि वे दुर्योधन की सेना में थे पर अन्तःकरण से वे युधिष्ठिर के सहायक थे। वे जानते थे कि दुर्योधन का पक्ष अन्याय और अधर्म पर है और युधिष्ठिर सच्चाई पर हैं पर इन सबमें धृतराष्ट्र अत्यन्त भयभीत था। उसका अन्तःकरण कहता था युधिष्ठिर सच्चा है, पर वह राजपाट का लोभ और बेटों के भय से लड़ाई को रोक रखने की शक्ति नहीं रखता था। उसे दिन रात चैन न था, उसे पहले ही आभास हो गया था कि इस लड़ाई में न तो बेटे बचेंगे और न भतीजे। सारा कुरूकुल नष्ट हो जाएगा और राजपाट, जिसके लिए ये लड़ रहे हैं, वह दूसरों की भोग्यभूमि होगा!

निदान बड़े सोच विचार के पश्चात् उसने निश्चय किया कि लड़ाई

से पहले युधिष्ठिर की धर्मप्रवत्ति को अपील करें। उसने एक विद्वान् संजय नामक ब्राह्मण को दूत बनाकर युधिष्ठिर के दरबार में भेजा ताकि वह युधिष्ठिर को इस भयानक युद्व से रोकने का उपदेश करे।

अतवए महाराज धृतराष्ट्र का भेजा हुआ दूत युधिष्ठिर के शिविर में आया। युधिष्ठिर ने संजय का बड़ा आदर सत्कार किया। जब बड़ी नम्रता से युधिष्ठिर को लड़ाई की बुराइयां सुनाने लगा और कहा कि केवल राजपाट के लिए लड़ना और अपने संबंधियों का वध करना महापाप है। तुम्हें उचित है कि इस विचार को त्याग दो और यदि जान भी जाये, पर अपने भाइयों और सम्बन्धियों पर आक्रमण न करो। प्रथम तो इन दोनों पक्ष वालों का एक दूसरे पर विजय पाना कठिन है, फिर यदि तुम जीत भी गये तो इससे क्या सुख मिल सकता है। इसलिए ऐसे युद्व से अपनी आत्मा को कलंकित मत करो और सन्धि कर लो।

उत्तर में युधिष्ठिर ने जो कुछ कहा वह हमारी पुस्तक से अधिक संबंध नहीं ररखता। यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि युधिष्ठिर ने संजय को अच्छी तरह से समझा दिया कि यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने हमसे बड़ी अनीतियां की हैं और मेरे भाई उनसे बदला लेना चाहते है; किन्तू मैं सन्धि करने पर राजी हूं, यदि मुझे मेरी राजधानी इन्द्रप्रस्थ दे दी जाये।

संजय तो अपने स्वामी की आरे से आसन्न युद्व के हानि लाभ पर तर्क वितर्क करने आया था, इसलिए उसने युक्ति से अधिक काम लिया और युधिष्ठिर को संसार के नाशवान् होने पर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। आजकल के विभिन्ना मत मतान्तरों की भांति वह युधिष्ठिर को उपदेश देने लगा, ''हे राजन! संसार में काम सारी बुराइयों की जड़ है। जो निष्काम हैं वही परमात्मा को प्राप्त को सकते हैं। काम ही हमको सांसरिक बन्धन में फंसाता है और बार बार जन्म मरण की श्रृंखला से निकलने नहीं देता। ज्ञानवान् सांसारिक पदार्थो की परवाह नहीं करता और कर्मो के बन्धन से स्वतंत्र हो जाता है। तू ज्ञानवान् होकर फिर क्यों ऐसे कर्म करता है जो निन्दनीय हैं। संसार के यावत् सुख–दुःख क्षणिक हैं। जो पुरूष संसार

के सुखों की इच्छा करता है वह उन सुखों के हेतू धर्म भी हार देता है। मेरी सम्मति में राजपाट के लिए लड़ाई करने से भिक्षा मांगकर पेट भरना अच्छा है, क्योंकि युद्वद्व में मनुष्य तरह तरह के पाप करता है। इसलिए हे युधिष्ठिर! तू इस काम से अपनी आत्मा को भ्ज्ञष्ट मत कर। तू वेदों का ज्ञाता है और तूने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन भी किया है। यज्ञ भी किये हैं। तुझे उचित नहीं ि कइस निन्दनीय कार्य से अपने विमल यश पर बट्टा लगाये। हे राजन! इसपाप से तेरी सारी तपस्या और आत्मा की पवित्रता नष्ट हो जाएगी। लड़ाई धार्मिक भाव के विरूद्व है। तू क्रोध सब पापों में आकर लड़ाई पर तत्पर हो गया है, परन्तू स्मरण रख, क्रोध सब पापों की जड़ है। प्रत्येक पुरूष को चाहिए कि वह क्रोध से बचे और अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। हे राजन्! अपने क्रोध को शांत कर और अपनी आत्मा को उस महाहत्या से बचा। अपने पितामह, भाई, भतीजे तथा इष्ट मित्रों के वध से तुझे क्या मिलेगा? तेरी इस कार्यवाही से लाखों घर निर्वश हो जायेंगे। घर घर में रोना पीटना मच जाएगा। लाखों स्त्रियां तेरा नाम लेकर रोयेंगी और तुझे कोसेंगी। इस विध्वंस के बाद यदि तुझे राजपाट मिल भी गया तो क्या वह सुखदायक होगा? क्या इस राजपाट से तु मृत्यु और बुढ़ापे के पंजे से बच जाएगा, फिर क्यों पाप से अपने हाथ रंगता है। वे तेरे शत्रु हैं जो तुझे युद्व करने की राय देते हैं। यदि तेरे मंत्रदाता इस सम्मति को नहीं पलटते तो तू इस सिद्वांत को छोड़ और राजपाट छोड़ वन का रास्ता ले। यदि यह नहीं हो सकता तो और कुछ कर, पर लड़ाई के पास न जा।''

इस विस्तृत वक्तृता के उत्तर में युधिष्ठिर ने संजय से कहा, ''हे सजंय! मुझे यह उपदेश देने से पहले तुझे चाहिए था कि तू धर्म और अधर्म के लक्षण का वर्णन करता, जिसे सुनकर हम यह निश्चय कर सकते कि यह लड़ाई धर्म है या अधर्म। तू जानता है कि धर्म और अधर्म का निर्णय करना कितना कठिन है। प्रायः धर्म अधर्म प्रतीत होता है और अधर्म धर्म। इसी प्रकार आपत्ति के समय में भलाई और बुराई में अर्थ भेद पड़ जाता है। इसलिए प्रत्येक पुरूष का कर्त्तव्य है कि अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्म का पालन करे। तू यह भी जानता है कि आपति काल का धर्म भिन्न होता है। मैं तो दोनों लोकों के राज्य के लिए भी धर्म त्यागने पर राजी नहीं हूं। मैं समझता हूं कि मैं जो कुछ करने लगा हूं वह धर्म के अनुकूल है। फिर भी कृष्ण हम सबमें पवित्र, विद्वान और धर्मशास्त्र में

निपुण हैं। कृष्ण से व्यवस्था ले लो िकइस समय क्या धर्म है। जो कुछ वह व्यवस्था देंगे वह मुझे स्वीकार्य होगी।''

इस पर कृष्ण ने संजय से कहना आरम्भ किया—

''हे संजय! तू जानता है कि मैं इन दोनों पक्ष वालों का शुभचिन्तक हूं। मैं नहीं चाहता कि कौरव और पाण्डव नष्ट हों। मैं इनकी भलाई चाहता हूं। मैं पूर्व से ही दोनों को सन्धि कर लेने का उपदेश देता आया हूं। जहां तक मैं देखता हूं युधिष्ठिर अन्तःकरण से सन्धि चाहता है। उसने अभी ऐसी कोई कार्यवाही नहीं की, जिससे इसके विरूद्व भाव प्रकट हो। परन्तू जब धृतराष्ट्र औश्र उसके पुत्रों के नेत्रों पर लोभ ने पट्टी बांध रखी है तो मैं नहीं समझता कि यह युद्व कैसे रूकेगा?

''धर्म और अधर्म का लक्षण तू भी भली भांति जानता है, पुनः आश्चर्य है कि तु यधिष्ठिर जैसे पूर्ण क्षत्रिय को ताना देता है। युधिष्ठिर अपने धर्म पर स्थिर है और ऐसे शास्त्रानुसार अपने कुल की भलाई का चिन्तन करना है।

''ज्ञान और कर्म विषयक जो तुमने उपदेश किया है, वह ऐसा विषय है जिसके बारे में ब्राह्मणों की एक सम्मति नहीं रही है। अनेकों की राय है कि परलोक की सिद्वि कर्मो से ही होती है। अन्य लोग कहते हैं कि मुक्ति केवल ज्ञान से मिलती है और इसके लिए कर्मो का नाश करना ही जरूरी है। ब्राह्मण जानते हैं कि यद्यपि हमको खाने के पदार्थो का ज्ञान चाहे हो, पर भूख का नाश तब तक नहीं होता जब तक हम भोजन नहीं कर लेते। ज्ञानकांड की वह शाखा जो कर्मकांड में सहायता देती है, वह अधिक फलदायक है, क्योंकि कर्म का फल प्रत्यक्ष है। प्यासा पानी पीता है और पानी पीने के कर्म से उसकी प्यास बुझ जाती है, इससे स्पष्ट है कि केलवल ज्ञान से कर्म श्रेष्ठतर है। सृष्टि में कर्म ही प्रधान दीख पड़ता है। वायू, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और पृथ्वी सब कर्म करते हुए अपना अपना धर्म पालन कर रहे हैं। सारे आप्त पुरूषों, विद्वान् ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भी यही व्यवस्था है। फिर हे संजय! यह सब कुछ जानकर भी क्यों धृर्तराष्ट्र के पुत्रों का पक्ष लेकर उनकी वकालत करने आये हो। तुम जानते हो कि युधिष्ठिर वेद का ज्ञाता है, उसने राजसूय यज्ञ किया है, घोड़े और

हाथी की सवारी करना और शस्त्र चलाना उसका काम है। अब तू ही बता, ऐसी दशा में वह कौन सा उपाय है जिससे युधिष्ठिर धर्म से पतित न हो। परन्तू तुझे इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि युधिष्ठिर राजपुत्र है। अब बता कि शास्त्र राजा के लिए क्या आज्ञज्ञ देते हैं। लड़ना या न लड़ना, उसका धर्म क्या धर्म है,

''शास्त्र में जो क्षत्रियों के धर्म लिखे हैं उनका विचार करके तुझे अपनी सम्मति देनी चाहिए। क्या क्षत्रिय का यह धर्म नहीं कि वह विद्या का प्रचार करे, धर्म की रक्षा करे, अपनी प्रजा का पालन करे। ऐसे नियम बनाये और इस तरह प्रबन्ध करे, जिसमें सब लोग वर्णाश्रम (अपने अपने धर्म) में स्थिर रहें। क्या न्याय करना और अनीति और अत्याचार को दंड देना उसका धर्म नहीं है? यदि कोई पुरूष छल से या अधर्म से दूसरों का धम छीने तो बताओ उसके साथ राजा क्या बर्ताव करे? यदि ऐसी दशा में भी लड़ाई करना पाप है तो फिर ये शास्त्रादि किसलिए बनाए गए हैं? शास्त्र कहता है कि अधर्मी, पापी और दस्यु को शस्त्र से दंड देना क्षत्रिय का धर्म है औश्र इसी से क्षत्रिय को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसलिए ऐसी अवस्था में लड़ाई करना कैसे पाप हो सकता है? आपको देखना चाहिए कि धृर्तराष्ट्र और उसके पुत्रों ने क्या क्या किया। उन्होंने अधर्म से पाण्डवों का धन छीन लिया। याद रखो कि छिपकर चोरी करना या सामने चोरी करना दोनों ही समान पाप हैं। फिर बताओ दुर्योधन औश्र चोर में क्या भेद रहा? इसके अतिरिक्त दुर्योधन तथा उसके दुष्ट साथी द्रोपदी को नग्न घसीट कर दरबार में ले गये और उसका अपमान किया। बड़े दुख की बात है कि उस समय दुर्योधन को किसी ने नहीं समझाया और न पूछा कि तुम वह क्या करते हो। संजय, तुम तो उस समय वहां थे, तुमने उस समय कर्ण को क्यों नहीं मना किया ि कवह अर्जुन को ताना न दे। उस समय तो सारी सभा कायरों की तरह चुप रही और अब प्रत्येक पुरूष युधिष्ठिर को उपदेश देने आता है कि वह लड़ाई न करे।

''फिर भी मेरी यही इच्छा है कि बिना लड़ाई के न्याय हो जाये। मैं स्वयं तैयार हूं कि कौरवों के पास जाऊं और उन्हें समझाऊं। यदि वह मेरे समझने से पाण्डवों को उनका अधिकार दे दे ंतो मैं अपने आपको कृतार्थ समझूंगा।''

बाईसवां अध्याय

कृष्णचन्द्र का दौतय कर्म

जब संजय विदा होकर चला गया तो महाराज कृष्ण ने धृर्तराष्ट्र के पास जाने का विचार प्रकट किया। श्रीकृष्ण जब चलने के लिए तैयार हुए तो युधिष्ठिर को बड़ी चिन्ता हुई। उसे यह विचार हुआ कि दुष्ट दुर्योधन कहीं कृष्ण का हानि न पहुंचाये। इसलिए उसने कृष्ण को बहुत समझाया कि वे वहां न जायें। यहां तक कहा कि आपके बिना मुझे चक्रवर्ती राज्य और स्वर्ग भी स्वीकार नहीं। परन्तू कृष्ण ने उनकी एक न मानी और युधिष्ठिर को कहा कि मेरा हस्तिनापुर जाना आवश्यक है, इसलिए कि यदि मुझे इस काम में सफलता नहीं मिली और दुर्योधन ने सन्धि के प्रस्ताव को न माना तो पीछे से कोई हमें दोष नहीं दे सकेगा कि हमने सन्धि नहीं की। जब युधिष्ठिर ने देखा कि कृष्ण अपने संकल्प में दृढ है, तो उसने उनको जाने की आज्ञा दी तथा अपनी ओर से पूरा अधिकार भी दिया कि जो शर्त आप स्वीकार कर आयेंगे वह मुझे सर्वथा स्वीकार होगी। कृष्ण ने प्रस्थान करने के पहले फिर युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश दिया ताकि युधिष्ठिर सन्धि की आशा में अपनी तैयारियों से असावधान न हो जायें और दुर्योधन को सहज ही में लड़ाई जीतने का अवसर मिले। उस उपदेश में कृष्ण ने युधिष्ठिर को बताया कि आजीवन ब्रह्मचारी रहना क्षत्रिय धर्म का पालन नहीं। क्षत्रिय सीधा स्वर्ग जाता है। क्षत्रिय के लिए कायर होना पाप है। मुझे विश्वास है कि दुर्योधन कभी सन्धि के लिए राजी नहीं होगा। मैं दुर्योधन को अच्छी तरह जानता हूं। देखो! डसने आप और आपके

भाइयों के साथ कैसा बर्ताव किया है। मैं प्रत्येक प्रकार से दुर्योधन और उसके सहायकों को समझाने का प्रयत्न करूंगा, परन्तू मेरी आत्मा कहती है कि वह एक भी बात नहीं मानेगा। लड़ाई अवश्य करनी ही पड़ेगी। इसलिए हे राजन् तुझे चाहिए कि अच्छी तरह से लड़ाई की तैयारियां करता रहे और अपने धर्म से विमुख न हो।

कृष्ण के इस कथन को सुनकर भीम और अर्जुन के चित्त में यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं कृष्ण अपने कठोर वचन से काम न बिगाड़ दें। तब तो सन्धि असंभव हो जायगी। इसलिए दोनों ने बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर कृष्ण से विनयपूर्वक कहा कि जहां तक संभव हो, आप दुर्योधन से नम्रता से बर्ताव करें, क्योंकि हम कदापि लड़ाई करना नहीं चाहते। यदि दुर्योधन कुछ थोड़े ग्राम भी हमको दे दें तो हम उसी पर संतोष करके दिन काट लेंगे। इस पर कृष्ण ने उत्तर दिया,''ऐसा जान पड़ता है कि तुम उससे डर गये हो। तुम्हारी इस कायरता पर मुझे बड़ा दुख होता है।'' भीम को कृष्ण का यह कटाक्ष तीर के समान चुभा, परन्तू यह संभलकर विनयपूर्वक अपना यथार्थ आशय समझाने लगा, ''मैं किसी तरह भी दुर्योधन या उसके योद्धाओं से भय नहीं खाता। मुझे यदि विचार है तो केवल इतना ही है कि इस आपस की लड़ाई में सारे भारत की सन्तान नष्ट न हो जाये।'' इस पर कृष्ण ने भीम को सम्बोधित किया और कहा, ''मैं तुमको ताना नहीं देता। मैं तो तुमको याद दिलाता हूं कि युद्व से डरना क्षत्रिय का धर्म नहीं। मैं नहीं चाहता कि कायरता के कारण तुम अपने धर्म से विमुख हो बैठो। तुम धीरज धरो। मनुष्य से जितने यत्न हो सकते हैं उतना यत्न मैं सन्धि कराने के लिए करूंगा। परन्तू उसका फल बुरा निकल आता है।

''इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपनी मनोकामना की सिद्वि के लिए जो कुछ हो सकता है उसे वह करे। साथ ही उसका यह भी धर्म है कि वह केवल अपनी युक्तियों पर ही निर्भर न रहे, वरन् जो कुछ करता है उसे भगवान् के अधीन समझकर करे ताकि परमात्मा उसकी युक्तियों

में उसे सफल करे। कृषिकार अपने खेत में हल चलाता है, बीज बोता है, उसे पानी से खींचता है, परन्तू जल बरसाना उसके कर्म से बाहर है। यह कर्म परमेश्वर के अधीन है। इसलिए जो काम हम करें उसे परमेश्वर के अधीन होकर करें, साथ ही परमात्मा पर विश्वास रखें कि यदि उसकी कृपा होगी तो वह हमारी मनोकामना को अवश्य पूर्ण करेगा।''

अब कृष्ण युयधिष्ठिर, भीम और अर्जुन से विदा होकर नकुल और सहदेव से मिलने आये। नकुल ने तो यही कहा कि जैसी आपकी इच्छा हो वैसा ही कीजिएगा, परन्तू युवक सहदेव ने हाथ जोड़कर कहा, ''मेरी आन्तरिक इच्छा तो यही है कि हमारे हाथों दुर्योधन का नाश हो। आप ऐसी कार्यवाही करें जिससे लड़ाई अवश्य हो।'' सहदेव का यह कहना था कि सभा में चारों ओर से युद्व युद्व की ध्वनि गुंज उठी। सात्यकि ने कहा कि हमको चैन तब ही आएगा जब हम दुर्योधन का सिर अपने हाथ से कुचलेंगे। इतने में द्रौपदी भी आगे बढ़ी और अपने केश हाथ में लेकर कहने लगी, ''हे कृष्ण! तनिक इधर भी देखो। दर्योधन ने मेरे केश पकड़कर मुझे सभा के बीच अपमानित किया था। उस समय अर्जुन और भीम की वीरता भी कुछ काम नहीं आई, न किसी ने यह विचार किया कि यह महाराज द्रुपद की पुत्री है, महाराज पाण्डु की बहु, पाण्डवों की पटरानी, धृष्टद्युम्न की बहन और कृष्ण की मित्र है। क्या आप नहीं जानते कि अपराधी का अपराध क्षमा करना महापाप है। जो पुरूष दण्डनीय है उसके दंड को क्षमा करना स्वयं एक अपराध है। यदि पापियों की इस संसार में वृद्दि हुई और उनको राजा महाराजा दण्ड देने से मुख मोड़ने लगे तो इसका परिणाम बड़ा भयानक होगा। हे कृष्ण, क्या दुर्योधन पर दया करना उचित है? मैं आपसे विनयपूर्वक कहती हूं, यदि आपको मेरी मर्यादा का तनिक भी विचार है तो आप धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ नर्म न हों। उन्हें दण्ड देना ही धर्म है। भीम और अर्जुन ने यदि आज कायरता पर कमर बांध ली है और चुप बैठे हैं तो मेरा भाई और पिता उनसे बदला लेने को तैयार हैं।'' इतना कहकर द्रौपदी रोने लगी मानो उसके नेत्रों से मोतियों की धारा बह निकली। द्रौपदी की यह दशा देखकर सारी सेना में जोश आ गया। चारों ओ तलवारें म्यान से बाहर निकल आई। अन्ततः कृष्ण ने

द्रौपदी को संबोधन कर कहा, ''हे कृष्णे, तू धीरज धर। यदि दुर्योधन ने मेरी बात न मानी तो वह पछताएगा। उसकी रानियां विलाप करेंगी! तेरे पति विजय पावेंगे और तुझे फिर राजसिंहासन पर बिठायेंगे।'' इतना कहकर कृष्ण वहां से विदा हुए। वे जानते थे कि दुर्योधन दुष्ट है, इसलिए उन्होंने अपनी रक्षा के लिए दो हजार सिपाही साथ लिए और हस्तिनापुर की ओर चले।

धृतराष्ट्र को जब समाचार मिला कि कृष्ण आ रहे हैं तो उसने उनके आराम का पूरा प्रबन्ध कर दिया और राजधानी में स्वागत की बड़ी तैयारियां कराने लगा, परन्तू कृष्ण ने धृतराष्ट्र के प्रबन्ध से कुछ फायदा नहीं उठाया। वे हस्तिनापुर पहुंच गये। यहां कौरवों की ओर से उनका अच्छा स्वागत किया गया। जब वे महल में आए तब सब छोटे बड़ों ने उनका पूरा सत्कार किया।

तेईसवां अध्याय

कृष्ण का हस्तिनापुर आगमन

कृष्ण, धृतराष्ट्र, भीष्म और द्रोणादि से भेंट करके विदुर के स्थान पर ठहरे। युधिष्ठिर की माता कुन्ती भी विदुर के साथ रहती थी। जब कृष्ण उसके घर पहुंचे तो उसने बड़े प्रेम से उन्हें गले लगाया और आदर सत्कार से पास बिठाकर रोने लगी। किसकी लेखनी में शक्ति है जो माता के प्रेम का वर्णन लिख सके! किसमें बल है जो अपने पुत्रों के लिए झेले गये माता के दुख को लेख द्वारा प्रकट कर सके। कृष्ण और कुन्ती के मिलाप का पूर्ण वर्णन पाठकों के सामने उपस्थित करना हमारी लेखनी से बाहर है। याद रखना चाहिए कि कुन्ती कृष्ण की फूफी (बूआ) थी। 14 वर्ष से कुन्ती ने अपने प्यारे पुत्रों का मुख नहीं देखा था। 14 वर्ष हुए जब युधिष्ठिर की कमजोरी से अपने राजपाट से अलग कर उन्हें देश से निकाल दिया गया था। 14 वर्ष हुए जब पाण्डवों ने अपनी बिलखती माता को महलों में छोड़ा था। 14 वर्ष से बेचारी माता अपने प्यारे बच्चों की बाट जोह रही थी और मन मारे बैठी थी। कृष्ण के मिलने से माता की सारी आशाएं लहलहा उठीं और साथ ही कृष्ण के आगमन ने मानों उसके घाव को ताजा बना दिया। कृष्ण की छवि में उसने अपने प्यारे पुत्रों की छाया देख ली। कुन्ती ने कृष्ण पर प्रश्नों की बौछार आरम्भ कर दी। एक एक करके प्रश्न पूछती जाती थी और साथ ही आंखों से आंसुओं की धारा जारी थी। वह मुख से विलाप कर रही थी और कभी अपने वैधव्य पर रोती थी, कभी अपने पुत्रों की बाल्यावस्था को रो रोकर याद करने लगती थी। युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा, भीम की वीरता और अर्जुन की

धनुर्विद्या में कुशलता, ये सब इस समय उसके नेत्रों के सम्मुख घूम रहे थे। वह हैरान थी कि इन 14 वर्षो की क्या क्या बातें पूछे। सारांश यह कि वह अपने दुख की रामकहानी सुना रही थी और दूसरे को बोलने का अवकाश भी नहीं दे रही थी। कृष्ण भी चित्रवत् खड़े सुन रहे थें निदान कुन्ती ने अपना विलाप कुछ कम किया और फिर अपने पुत्रों का कुशल–मंगल पूछने लगी। कृष्ण के मुख से उनका हाल सुनकर उसके कलेजे में फिर चोट–सी लगी और वह रोने तथा विलाप करने लगी। अन्ततः जब भीतर का उबाल अच्छी तरह से निकल चुका तो कृष्ण से कहने लगी, हे'' कृष्ण! मेरी ओर से तो मेरे सब पुत्र मर गये और उनकी ओर से मैं मर चुकी। युधिष्ठिर को आप यह संदेश दीजिए कि तेरा यश दिन ब दिन बढ़े। तू सदा भलाई ही करता रहे, जिससे तेरी धार्मिक मर्यादा की वृद्धि होती जाये। हे जनार्दन! टाप उनसे जाकर कहें, धिक्कार है उन लोगों पर जो दूसरों के सहारे जीते हैं या दूसरों से डरते हैं। ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा है।

''आप अर्जुन और भीम से कहें कि जिस दिन के लिए क्षत्रिय स्त्रियां पुत्र जनती हैं, वह दिन आ पहुंचा। यदि इस समय तुमसे कुछ न बन सका तो सारा जगत् तुच्छ समझेगा। जिस दिन ततुमने कोई निन्दनीय कार्य किया उसी दिन मुझसे तुम्हारा नाता टूट जायेगा। हे कृष्ण! आप माद्री के पुत्रों से भी कहें, ''यथार्थ सुख वह है जो निज बाहुबल से उपार्जित किया जाये।'' क्षत्रिय पुत्र के लिए वह वस्तु सुखदायक नहीं हो सकती जो उसने अपने बाहुबल से प्राप्त नहीं की है। अर्जुन से मेरा अन्तिम संदेश यह कहना कि उसे वही करना धर्म है जो द्रौपदी कहे।'' द्रौपदी का नाम लेते ही कुन्ती के नेत्रों से फिर आंसु निकल पड़े। उसके अपमान का दृश्य उसके सामने घूमने लगा। इसके बाद कृष्ण कुन्ती को सम्बोधन करने लगे। उन्होंने अभागे पाण्डवों का नमस्कार माता के पवित्र चरणों में निवेदन किया। उनके प्रेम पूरित संदेश को माता के कर्ण गोचर किया। पुत्रों के धर्म भाव, उनकी वीरता, सत्यता तथा दृढ़ता की अनेक कहानियां सुनाई। धर्म, ज्ञान और दर्शन के उपदेशों से उसके संतप्त ह्रदय को ठंडा किया। सारांश यह कि कृष्ण ने अपनी वाणी व चतुराई से उसके

दुख को दूर कर दिया। उसके भीतर की बुझी हुई आशायें पुन'' लहलहा उठीं। वीर क्षात्र बाला का सारा क्रोध कृष्ण की मधुर वाणी के आगे मोम की तरह पिघल गया। वह अन्त में कहने लगी, ''हे कृष्ण! जो आपको भला मालूम दे वही करें। मुझे आपकी बुद्विमान और चातुर्य पर पूरा विश्वास है। आप वही करेंगे जो मुझे और पुत्रों की हितकर होगा।''

सारांश यह कि कुन्ती को सम्बोधित करके और फिर उसकी आज्ञा लेकर कृष्णचन्द्र दुर्योधन के महल में गये। दुर्योधन और उसके सभासदों ने इनका बड़ा आदर सत्कार किया। फिर कृष्ण से भोजन की प्रार्थना की । जब कृष्ण ने उसे अस्वीकार किया तो दुर्योधन ने पूछा,'' महाराज! आप मेरा अन्न जल क्यों नही ग्रहण करते? मैंने अनेक प्रकार से आपकी सेवा करनी चाही और अच्छे अच्छे भोजन तैयार कराये, परन्तू आप स्वीकार नहीं करते। आप मेरे प्यारे संबंधी है और दोनों पक्ष वालों के मित्र हैं, इसलिए आपको तो दोनों पक्ष समान हैं।'' कृष्ण ने उत्तर में कहा, ''हे दुर्योधन, दूतों के लिए यही आज्ञा है कि जब तक उनका दूतत्व सफल न हो तब तक राजा की पूजा आज्ञा है कि जब तक उनका दूतत्व सफल न हो तब तक राजा की पूजा स्वीकार न करें। इसलिए जब तक मैं अपने कार्य में सफल नहीं होऊंगा तब तक आपके महल में अन्न जल ग्रहण नहीं कर सकता। हां, सफलता होने पर मै हर तरह से राजी हूं।'' इस पर दुर्योधन बोला,''महाराज! आपको ऐसा बर्ताव करना उचित नहीं। हम आपका पूजन इसलिए करते हैं, कि आप हमारे संबंधी हैं। आपका काम बने या न बने, हमारा अन्न स्वीकार कीजिए, जिससे हमारे चित्त में जो सेवा का भाव है वह बना रहे। आपसे हमें कोई विरोध नहीं फिर आप क्यों हमारी सेवा स्वीकार नहीं करते? ''कृष्ण ने जवाब दिया, ''मेरा यह सिद्वांत नहीं कि किसी को प्रसन्न रखने के अभिप्राय से या क्रोध से अथवा किसी लाभ के हेतू मैं धर्म मार्ग छोड़ दूं। मनुष्य किसी के घर का भोजन तब ही खा सकता है जब उसके ह्दय में खिलाने वाले के प्रति प्रेम हो अथवा उस पर आपत्तिकाल हो। अब सत्य तो यह है कि मेरे ह्दय में न तो तेरे लिए तनिक भी प्रेम है औश्र न मुझ पर ही अपति आई है।''

चौबीसवां अध्याय

विदुर और कृष्ण का वार्तालाप

इतिहास लेखक लिखता है कि रात का भोजन करने के पश्चात् जब विदुर और कृष्ण इकट्ठे हुए तो विदुर ने कृष्ण से कहा, ''हे कृष्ण! आप व्यर्थ में यहां आये। मुझे पूरा विश्वास है कि आपके उपदेश से कुछ काम नहीं निकलेगा। दुर्योधन ने एक बड़ी सेना इकट्ठी कर ली है। जो क्षत्रिय आपके शत्रु हैं, वे सब उसके सहायक हो रहे हैं। उसे अपने सेनाबल पर इतना भरोसा है कि वह अभी से अपने को विजयी समझने लगा है। धन और राजपाट की इच्छा ने दुर्योधन की आंखों पर पट्टी बांध रखी है। उसके सभासद भी उसी के समान कामी और क्रोधी हो गये हैं। मुझे दुःख है कि आपने व्यर्थ ही इन दुष्टों के पास आने का कष्ट उठाया। पाण्डवों का सहायक समझकर ये सब आपके लहू के प्यासे हो रहे हैं। मुझे भय है ि कवे आपको कुछ हाानि न पहुचाएं। इसलिए मेरी सम्मति है कि आप इस काम को त्याग दें और इनकी सभा में न जायें, क्योंकि मुझे आपके कार्य की सफलता की तनिक भी आशा नहीं है। जिस सभा में अच्छी या बुरी बात का अन्तर न विचारा जाए वहां बातचीत ही नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार चाण्डालों के सामने ब्राह्यणों के वचन का सत्कार नहीं होता उसी तरह दुर्योधन की सभा में आपके कथन या आशय का सम्मान नहीं होगा। अतः ऐसे व्यर्थ काम से दूर रहना ही अच्छा है।''

इसके उत्तर में कृष्ण बोले, ''हे विदुर! मै। इस उपदेश के लिए आपका बहुत ही अनुग्रहीत हूं। धर्मात्मा और भ्रदपुरूष ऐसी ही सलाह दिया

करते हैं। परन्तू मुझे खेद है कि मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता । मैं दृढ़–संकल्प करके आया हूं कि कम से कम एक बार अवश्य इस बात का यत्न करूं कि ये लोग वृथा सृष्टि के प्राण नष्ट न करें।

''इस समय मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि देश को और विशेषतः क्षत्रिय वंश को इस विनाश से बचाने के लिए एक बार फिर कोशिश करूं। यदि इसमें मैं सफलीभूत हुआ तो मैं समझूंगा कि मैंने महान् धर्म का काम किया। नही ंतो कम से कम मुझे इतना हार्दिक संतोष तो अवश्य रहेगा कि मैंने अपनी ओर से यत्न करने में कुछ कमी नहीं की। प्रत्येक सच्चे मित्र का धर्म है कि अपने मित्र को बुरे काम से बचाये। कौरव और पाण्डव मेरे संबंधी हैं, दोनों के साथ मुझे प्रेम है। इस समय मैं देखता हूं कि दोनों दल एक दूसरे को नष्ट करने के लिए तत्पर हैं। इसलिए मेरा धर्म है कि इस उत्पाद को मिटाने का यत्न करूं। चाहे कोई माने या न माने।'' सारांश यह है कि बहुत देर तक विदुर और कृष्ण में इस तरह की बातचीत होती रही, किन्तू श्रीकृष्ण अपने संकल्प में दृढ़ रहे।

धृतराष्ट्र की सभा में कृष्ण का दूतत्व

दूसरे दिन की प्रातःकाल श्रीकृष्ण ने अपने नित्यकर्म से छुट्टी भी नहीं पाई थी कि दुर्योधन उन्हें दरबार में ले चलने के लिए आ पहुंचा। श्रीकृष्ण सन्धया और अग्निहोत्रादि से निवृत होकर उसके साथ दरबार में पहुंचे जहां धृतराष्ट्र, भीष्म और द्रोणादि ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। कुछ इधर उधर की बातचीत होने के उपरान्त कृष्णचन्द्र ने धृतराष्ट्र से इस प्रकार कहा–''हे राजन् आपका कुल सारे आर्यावर्त में शिरोमणि है। शास्त्र–मर्यादा में इस कुल ने बड़ी प्रतिष्ठा पाई है। आपका वंश ऐसा पवित्र है जो सदा दूसरों के दुःख समझता आया है और जिसने कभी धर्म का त्याग नहीं किया। दीनों पर दया और सदाचरण में भी आपका कुल जगत्–विख्यात है। ऐसे कुल से कभी किसी निन्दनीय कार्य की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए यही उचित है कि पाण्डवों से आपका मेल

हो जाये। मैं मेल कराने आया हूं। यदि इधर से आप मेल करने पर राजी हो गये और उधर मैंने कोशिश की तो मेल हो जाना असम्भव नहीं। दोनों का भला इसी में है कि आपस में मिलके निपट लें। आपस में मेल हो जाने से किसी की सामर्थ्य नहीं होगी िकवे आपके कुल वालों पर कुदृष्टि डाल सकें। पृथ्वी का राज्य तुम्हारे अधीन हो जाएगा। किन्तू यदि यह लड़ाई छिड़ गई तो सारे जीवों की हत्या का भार भी आपके सिर पर ही रहेगा। यदि पाण्डव मारे गये तब भी आपको दुःख होगा। यदि आपके पुत्र मरे तो आपका जीवन ही वृथा हो जाएगा। हे राजन्! देखो!, देश के सारे राजा–महाराजा लड़ाई पर कमर बांधे तैयार हैं। इस लड़ाई में सबकी बरबादी है। इसमें न छोटा बचेगा और न बड़ा। इसलिए हम पर दया करें और लड़ाई को बंद करें, नहीं तो लहू की नदी बह निकलेगी और सारे भारतवासी इसमें लगभग नष्ट हो जायेगें।

''हे नृप! अपनी प्रजा को इस आपत्ति से बचाएं। पाण्डव भी आपके अंश हैं। जब उनके पिता परलोक सिधारे तो वे बालक थे। आपने उनका पालन पोषन किया और निज संतान के समान शिक्षा दी। अतः उन्हें निज संतान समझकर ही उन पर दया करें और इस लड़ाई को बंद करें।

''बेचारा युधिष्ठिर तो धर्म के लिए प्राण देने को भी तैयार है। इस समय तक वह आपकी आज्ञा पालन करता आया है। आपके पुत्रों ने द्रौपदी का कैसा अपमान किया। उसके केश पकड़कर उसे सभा में घसीट लाये, परन्तू तब भी पाण्डवों ने सहन किया और बखेड़ा नहीं बढ़ाया। इसलिए कल्याण इसी में है कि युधिष्ठिर को उसका हक देकर इस बखेड़े को शान्त करें। मैं दोनों का शुभचिन्तक हूं, इसलिए धर्म के नाम पर, दोनों के कल्याण के नाम पर आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप सन्धि कर लें, नहीं तो इसका अन्त बड़ा भयानक होगा, और उसके उत्तरदाता भी आप होगें।''

राजा धृतराष्ट्र ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया, ''हे केशव! आपने जो

कुछ कहा वह सत्य है। स्वर्गलोक जाने का मार्ग है। धर्म मर्यादा यही है जो आपने बतलाई, परन्तू क्या आप जानते नहीं कि मेरे पुत्र मेरे वश्झ में नहीं है। दुर्योधन मेरी आज्ञानुसार काम नहीं करता, न वह अपनी माता गान्धारी का कहना मानता है। उस पर किसी के सदुपयोग का भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए हे कृष्ण! आप ही कृपा करके उसे समझायें जिससे वह इस पाप कर्म से बचे।''

तब कृष्ण ने दुर्योधन की ओर फिरकर कहना आरम्भ किया। ''हे दुर्योधन! ऐसे उच्च वंश में तुमने जन्म पाया है। उचित तो यह है कि तू कोई ऐसा काम न करे जिससे तुझ पर या तेरे पूर्वजों पर कलंक लगे। विद्या पाकर तुझे यह उचित नहीं कि तु अनपढ़ लोगों के समान कार्य करे। इस समय तेरी इच्छा जिस ओर है वह अधर्म और पाप का मार्ग है। जो काम तुने करना विचारा है, वह काम धर्मात्मा और भ्रद पुरूष नहीं करते। देख, तूने इस कार्य से कितने जीव नष्ट होंगे। तुझे वही करना उचित है जिससे तेरी, तेरे सम्बन्धियों और मित्रों की भलाई हो। पाण्डपुत्र बड़े धर्मात्मा और सदाचारी, विद्वान और वीर है। तुम्हारे पिता, पितामह, गुरू और दूसरे ज्येष्ठ पुरूषों की इच्छा है कि पाण्डुपुत्रों से सन्धि कर ली जाये। इसलिए हे मित्र! तेरा कल्याण इसी में है कि नू उनसे मेल कर ले। ऐसे उच्च वंश में जन्म लेकर उचित है कि तू क्रोध से काम न करे। जो पुरूष अपने मित्रों के सदुपदेश को नहीं मानता उसका भला कभी नहीं होता और अंत में उसे पश्चाताप् करना पड़ता है। तेरे लिए भी उचित है कि तू अपने पूज्य पिता की आज्ञा का उल्लघंन न कर, नहीं तो याद रख तुझे अन्त में दुःख पहुंचेगा। पाण्डवों से मित्रता रखने में तेरा प्रत्येक प्रकार से कल्याण है। देख! तुने उन्हें कितनी बार सताया, पर उन्होंने तुझ पर कभी हाथ नहीं उठाया, और कभी तुझसे बदला लेने की इच्छा नहीं की। नही ंतो तू जानता है कि वीरता और धनुर्विद्या में अकेला अर्जुन अपनी बराबरी नहीं रखता तेरी सेना में कोई उसका सामना करने वाला नहीं है। राजकुमार! तू अब अपने भाई बन्धु और इष्ट मित्रों पर दया कर। तुझे अपनी प्रजा पर भी दया करनी चाहिए, नही ंतो सब इस युद्व में नष्ट हो जाएंगे और लोग यही

कहेंगे कि दुर्योधन ने खुद अपने कुल का नाश कर दिया। पाण्डुपुत्र इस पर राजी हैं कि धृतराष्ट्र महाराजाधिराज माने जायें और तुम्हें युवराज की पदवी दी जाये। पर तुझे उनका आधा राज उन्हें दे देना चाहिए। इस अवसर को तू दुर्लभ समझ और पाण्डुपुत्रों से मेल करके सुख और सुयश को प्राप्त हो।''

भीष्म, द्रोण और विदुर ने भी अनेक प्रकार से दुर्योधन को सन्धि कर लेने की सलाह दी पर दुर्योधन ने एक की न सुनी और बोला, ''हे महाराज! मैंने आपके वचन सुनें। आपको उचित नहीं था कि आप बिना विचारे मुझसे यों बातचीत करते। मैं नहीं समझता कि आप सब क्यों मुझे इस विषय में दोषी ठहराते है और पाण्डवों की सब बातों की प्रशंसा करते हैं। वास्तव में आपके सम्मुख, विदुर, पिताजी, गुरूजी और दादाजी सबके सामने मैं ही दोषी हूं, पर मुझे अपने में कुछ दोष नहीं दिखाई देता। मैंने कोई अपराध नहीं किया। युधिष्ठिर ने अपनी इन्छा से द्यूतक्रीड़ा की और दाव में अपना सारा राजपाट हार गए। फिर भी मैंने शकुनि से कहकर उनका सारा राजपाट लौटा दिया। पर उन्होंने फिर दाव रखा और अंत में देश त्याग का प्रण किया। मैंने किसी प्रकार उनके साथ कुछ छल नहीं किया। उन्होंने हमारे पारिवारिक शत्रुओं की सहायता की और उनकी सहायता से हमारे देश पर धावा करने और हमको लूटने को तैयार हुए।

''भय से तो मैं इन्द्र के सामने भी सर झुकाने को तैयार नहीं। मैं क्षत्रिय हूं। मेरे पास भय नहीं फटक सकता। यदि मैं लड़ाई में मारा गया तो सीधा स्वर्ग को जाऊंगा। क्षत्रिय का महान् काम यही है कि युद्वक्षेत्र में लड़ता हुआ अपने प्राण दे दे। लड़ाई में शत्रु के सामने सिर नीचा किये बिना यदि हम वीरता से लड़ते जाये ंतो इससे अच्छा और क्या हो सकता है? मेरी बाल्यावस्था में मेरे पिता ने अन्याय से उन्हें आधा भाग दे दिया था। मैं किसी तरह उसे स्वीकार नहीं कर सकता। जब तक मेरा श्वास चल रहा है तब तक मैं सुई की नोक जितनी भूमि भी उन्हें नहीं प्रदान कर सकता।''

दुर्योधन की ये बातें सुनकर कृष्णचन्द्र ने विराटरूप धारण किया और मारे क्रोध के आंखे लाल करके कहने लगे, ''हे दुर्योधन! क्या सचमुच तू

बाणों की शय्या पर सोना चाहता है? अच्छा तेरी इच्छा पूर्ण हो और शीध्र पूर्ण हो। हे मूर्ख! क्या तू समझता है, कि तूने पाण्डवों के साथ कोई अन्याय नहीं किया है? क्या ये सारे राजा महाराजा जो यहां वर्तमान हैं, यह कह सकते हैं कि तेरा यह कथन सत्य है? तूने पाण्डवों को हाानि पहुंचाने और उनको मारने के लिए क्या कुछ नहीं किया? इस पर उन्होंने दुर्योधन की एक एक करके सारी अनीतियां सुनाई और फिर कहने लगे, ''हे पापी! तू नहीं चाहता कि पाण्डवों को उनका पैतृक भाग दिया जाये यद्यपि वे विनयपूर्वक केवल अपना भाग मांग रहे हैं यह याद रख कि तुझे उनका भाग तो देना ही पड़ेगा और तू फिर पश्चाताप् करेगा। तुझे मैंने समझाया, तुझे धृतराष्ट्र ने समझाया, भीष्म ने समझाया, विदुर ने समझाया, द्रोण ने समझाया, पर तुझ पर किसी के समझाने का प्रभाव न हुआ। सत्य है, जब बुरे दिन आते हैं तो बुद्दि विपरीत हो जाती है और मनुष्य अभिमान से पूर्ण अपने इष्ट मित्रों के उपदेश को तुच्छ समझने लगता है।''

कृष्ण कायह कथन सुनकर सारे दरबार में सन्नाटा छा गया। निदान दुःशासन बोला, ''हे दुर्योधन, यदि तू खुद पाण्डवों से सन्धि नहीं करेगा तो राजा (धृतराष्ट्र) तेरे हाथ पैर बांधकर तुझको, मुझको और कर्ण को पाण्डवों के हवाले कर देंगे, फिर तू क्या कर सकता है?''

यह सुनकर दुर्योधन पहले तो बड़ा असमंजस में पड़ा। फिर सर्प की तरह फुंकारता हुआ उठकर दरबार से चल दिया। उसके साथ ही उसके भाई बंधु और इष्टमित्र भी चलते बने। अब कृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहना आरम्भ किया, ''हे राजन! अब उचित है कि आप अपने इस दुराचारी पुत्र को बन्दी कर लें। बुद्दिमानी तो इसी में है कि कुल की भलाई के लिए एक पुरूष की परवाह न की जाये। अन्यथा यदि कुल के अहित से देश या जाति का हित हो तो कुल की परवाह नहीं करनी चाहिए और आत्मा के उपकार के लिए समस्त संसार की परवाह नहीं की जाती। इसलिए हे राजन! दुर्योधन को बन्दी करके आप पाण्डवों से सन्धि कर लें।''

धृतराष्ट्र में इतनी सामर्थ्य कहां थी किवह कृष्ण के इस कथन पर अमल करता। उसने अपनी रानी गान्धारी को बुलाकर उससे कहा कि वह

दुर्योधन को समझाये।

गान्धारी ने पहले तो राजा धृतराष्ट्र को बहुत कुछ धिक्कारा और कहने लगी कि इस सारे उपद्रव के उत्तरदाता तो आप ही हैं। आप ही ने दुर्योधन को इतना सिर चढ़ा रखा था। अब वह एक की भी नहीं सुनता। अंत में दुर्योधन को अपने पिता, पितामह, गुरू और बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, यही तेरा परम धर्म है। मेरी भी उत्कट इच्छा है कि आपस में सन्धि हो जाये। यदि तू हम सबकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता और तुझसे बड़े प्रसन्न होंगे। अकेला कोई भी पुरूष राज्य नहीं कर सकता और विशेषतः वह पुरूष जिसकी इन्द्रियां उसके वश में न हों, कभी अधिक काल तक देश का शासन नहीं कर सकता। अनुशासन वही पुरूष कर सकता है जो अपनी इन्द्रियों को अपने वशीभूत रख बुद्विमानी से बर्ताव करे। कामी या क्रोधी राज्य के उपयुक्त नहीं होता, इसलिए पहले अपनी इन्द्रियों पर अधिकार पाना चाहिए। फिर संसार का राज्य मिल सकता है। मनुष्य पर अनुशासन करना बड़ा कठिन है। संभव है कि कभी कोई दुष्टात्मा शक्तिमान हो जाये, और उसे राज्य भी मिल जाये, पर उससे उसका निर्वाह नहीं हो सकता। जो प्रतापी राजा बनना चाहता हो उसका प्रथम धर्म है कि वह अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन करे। इससे बुद्वि की वृद्वि होती है, जैसे ईंधन से आग की। स्वाधीन इन्द्रियां स्वाधीन घोड़ों के तुल्य हैं जो अपने सवार को कभी न कभी गिरा देता है और घायल करता है। जो पुरूष अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन किये बिना अपने मित्रों में श्रेष्ठता पाने का यत्न करता है उसका यत्न वृथा जाता है। अपने मित्रों में सम्मान पाये बिना जो अपने शत्रु पर विजय यत्न यह होना चाहिए कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर प्रभुत्व प्राप्त करे, क्योंकि ऐसे ही पुरूष को सदा सुख प्राप्त होता है। काम और क्रोध को बुद्विमानी से वश में करना चाहिए। जिस पुरूष ने यावत् सांसारिक इच्छाओं का परित्याग कर दिया है पर काम और क्रोध उसके शरीर में बने हैं वह कभी स्वर्ग प्राप्त नहीं कर

सकता। वही क्षत्रिय चक्रवर्ती राज्य को प्राप्त कर सकता है, जिसने काम क्रोध, लोभ और अभिमान को जीत लिया है।''

इस प्रकार उपदेश करते हुए गान्धारी ने दुर्योधन को सब ऊंचा नीचा बताया। कभी उसको अर्जुन और कृष्ण की वीरता का भय दिखाया और कभी भीष्म, धृतराष्ट्र और द्रोणादि के अप्रसन्न हो जाने का भय दिखाया। सारांश यह कि प्रत्येक प्रकार से उसे समझाया, पर उसने कुछ न माना। अन्त में वह उठ खड़ा हुआ और दरबार से चला गया।

पच्चीसवां अध्याय

कृष्ण के दूतत्व का अन्त

दरबार से बाहर जाकर दुर्योधन ने अपने भाई बन्धुओं से राय मिलाई और कृष्ण को कैद करने की ठानी, पर यह बात पूरी नहीं होने पाई थी कि इसकी सूचना कृष्ण के साथी सात्यकि को मिल गई। उसने एक और तो अपनी सेना को तैयार होने की आज्ञा दी और दूसरी ओर कृष्ण को यह खबर सुना दी। फिर उनकी आज्ञा से धृतराष्ट्र को भी सूचित किया गया। सारा दरबार यह बात सुनकर दंग रह गया, क्योंकि प्राचीन काल में दूत को कैद करना महापाप समझा जाता था। इसीलिए किसी को इसका विचार भी नहीं था कि दुर्योधन ऐसी नीचता पर कमर बाधं लेगा। धृतराष्ट्र लज्जा और क्रोध से कांपने लगा। उसने दुर्योधन को बुलाकर बहुत धिक्कारा कृष्ण दरबार से विदा होकर कुन्ती के पास आये और उसको सारा वृत्तान्त कह सुनाया तथा पुछने लगा कि अब क्या करना चाहिए। कुन्ती ने कृष्ण के द्वारा अपने पुत्रों को संदेश कहला भेजा। सर्वप्रथम युधिष्ठिर को संदेश देते हुए कहा,''पुत्र! तेरा यश दिन दिन घट रहा है क्योंकि तु अंहकार में फंसा हुआ उस पुरूष के समान है जो यथार्थ अर्थ समझे बिना वेदों के शब्दों को रट लेता है इसलिए विद्वान नही कहलाता। तू धर्म के एक पक्ष को ही देख रहा है। तू बिलकुल भूल गया कि परमात्मा ने उस वर्ण के लिए किस धर्म का उपदेश किया है जिसमें तूने जन्म लिया है। क्षत्रिय इसीलिए उत्पन्न होता है िकवह केवल अपने बाहुबल पर भरोसा रखता हुआ प्रजा की रक्षा करे। सुरक्षित प्रजा के पुण्य कर्मो के फल का छठा

भाग राजा के लेखे में गिना जाता है।राजा को अपना धर्म पालन करने से देवता पद मिलता है और पाप से वह नरकगामी होता है। धर्मानुसार चारों वर्णो का न्याय करना तथा प्रत्येक अपराधी को दन्ड देना राजा का महान् कर्त्तव्य है। इससे उसको मोक्ष मिलता है।

''जिस काल में राजा, प्रजा से नियम का अच्छी तरह पालन कराता है उस समय को कृतयुग कहते हैं। ऐसे राज्य के अधीन होता है। राजा समय के अधीन नहीं होता। जिस राजा के समय में त्रेता युग हुआ उसको भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है। पर वह स्वर्ग को बहुत अच्छी तरह नहीं भोग सकता । इसी तरह द्वापर युग का राजा इससे भी कम, और कलियुग लाने वाला राजा तो पाप में डूबा हुआ दुख भोगता है और बहुत काल के लिए नरक को जाता है। सत्य यह है कि राजा के पापों का फल राजा को भी भोगना पड़ता है।

''इसलिए हे राजपुत्र! तुझको उचित है कि तू अपनी मर्यादानुसार व्यवहार कर। जो आचरण तुमने ग्रहण किया है वह राजर्षियों के योग्य नहीं है। अनुचित दया की गिनती निर्बलता में होती है। तेरे पिता या मैंने कभी तेरे लिए ऐसी बुद्धि की आशा नहीं की। मैं तो सदा तेरे लिए यज्ञ, दान और पुरूषार्थ की परमेश्वर से प्रार्थना करती रही हूं।

''मैं सदा परमात्मा से यही वन्दना करती आई हूं कि वह तेरे आत्मा को महान् बनावे और तुझे वीरता और पुरूषार्थ प्रदान करे।

''देवता जब प्रसन्न होते हैं तो आयुष, धन और संतान की वृद्धि करते हैं। माता पिता की सदा यही इच्छा होती है कि उनकी संतान विद्वान हो, दानी हो और प्रजापालक हो। इसलिए तेरा कर्त्तव्य है कि जिस वर्ण में तेरा जन्म हुआ है उसके धर्म का पालन कर। हे युधिष्ठिर, दान लेना ब्राह्मण का काम है तेरा नहीं। तू क्षत्रिए है। तेरा धर्म है कि तू अपने बाहुबल से विपत्ति काल में दूसरों की सहायता करे। इसलिए अब विलम्ब क्यों करता है, क्यों अपने बाहुबल से अपना राजपाट नहीं लौटा लेता। कैसे

दुख की बात है कि तुझे जन्म देकर भी मैं दुसरों का दिया हुआ अन्न खाऊं युधिष्ठिर! तू क्यों अपने पूर्वजों के यश और कीर्ति में बट्टा लगाता है। उठ! वीरों की तरह युद्व कर और धर्म–मर्यादा को छोड़कर भाइयों सहित पाप का भागी न बन'' इसी तरह के संदेश कुन्ती ने भीम और अर्जुन के लिए भी दिये और कृष्ण को प्यार देकर विदा किया।

छब्बीसवां अध्याय

कृष्ण–कर्ण संवाद

जब कृष्ण अपने कार्य में सफलभूत नहीं हुए तो उन्होंने चलते चलते एक और युक्ति लगाई जिससे कर्ण और दुर्योधन में विरोध हो जाए और कर्ण उसका पक्ष छोड़कर पाण्डवों का साथ दे।

कर्ण के विषय में कहा जाता है कि वह पाण्डवों का सौतेला भाई है, पर यह विवाह से पहले उत्पन्न हुआ था इसलिए कुन्ती ने भी उसे अपना पुत्र स्वीकार नहीं किया था। पाठकों को याद होगा कि बाल्यावस्था में पाण्डवों और धृतराष्ट्र के पुत्रों की परीक्षा ली गई थी तो कर्ण को अर्जुन का प्रतिपक्षी बनने की आज्ञा नहीं दी गई थी क्योंकि वह हीन तो कर्ण को कुलोत्पन्न था। उसी दिन से उसने प्रण किया था कि किसी तरह अर्जुन को परास्त कर इस अपमान का बदला लूंगा। इसी अभिप्राय से उसने दुर्योधन से मित्रता पैदा की और उसको अपना सहायक बना दिया। दुर्योधन की सेना में कर्ण, भीष्म और अर्जुन के बराबर के योद्वा गिने जाते थे। दुर्योधन को विश्वास था कि इन दोनों के सामने अकेले अर्जुन की कुछ न चलेगी। इससे उसको इतना अभिमान था ि कवह इस सन्धि को अस्वीकार करता था। कृष्णचन्द्र यद्यपि अन्तःकरण से चाहते थे, कि लड़ाई न हो, पर पाण्डवों को उनका स्वत्व न मिले और सन्धि हो जाए इस बात को भी वे पसन्द नहीं करते थे। वह तो इसे पाप समझते थे। इसलिए हस्तिनापुर से विदा होने के पहले उन्होंने यह ययुक्ति लगाई कि कर्ण को उसके जन्म का यथार्थ परिचय देकर दुर्योधन की सहायता करने से रोके। कृष्ण ने कर्ण

को बहुत कुछ समझाया और पाण्डवों की ओर से यहां तक कहा कि उम्र में सब भाइयों से बड़े होने के कारण गद्दी के अधिकारी आप ही हैं। इस पर भी कर्ण ने दुर्योधन का साथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया और उत्तर दिया कि मैं दुर्योधन से उसका साथ देने का दृढ़ संकल्प कर चुका हूं। अब यदि चक्रवर्ती राज्य भी मिले तो मैं उसका साथ नहीं छोड़ सकता। मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि या तो अर्जुन को युद्वक्षेत्र में नीचा दिखाकर यश और कीर्ति लाभ प्राप्त करूं और संसार में महावीर कहलाऊं अथवा उसके हाथ से मारा जाकर स्वर्ग को सिधारूं। कृष्णचन्द्र की चतुरता का यह अन्तिक वार भी खाली गया। अब इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय बाकी न रहा कि अपनी अपनी सेना सजाई जाए और युद्व की तैयारियां की जायें। जब कृष्ण हस्तिनापुर से लौटे तो युधिष्ठिर ने अपनी सेना के साथ प्रस्थान किया और कुरूक्षेत्र के मैदान में आ पहुंचा। अब लड़ाई की तैयारियां होने लगी।

सत्ताईसवां अध्याय

महाभारत का युद्ध

भारत संतान के इन दोनों वंशों में मेल कराने की कोई युक्ति बाकी नहीं रही। साम, दाम, दंड और भेद प्रत्येक नीति काम में लाई गई पर किसी प्रकार भी अन्त भला नहीं निकला, तब अपने बाहुबल से न्याय प्राप्त करना स्थिर किया गया। सत्य है जब दिन बुरे आते हैं तो बुद्दि विपरीत हो जाती है। भले और बुरे का ज्ञान नहीं रहता। बुद्दि पर परदा पड़ जाता है, और ऐसे ही अवसर पर कहा जाता है कि भाग्य बड़ा प्रबल होता है। कर्मो की गति के सामने मानुषी युक्तियां व्यर्थ हो जाती है। महाभारत की लड़ाई क्या थी? आर्य जाति के बुरे कर्मो का दण्ड था। राजा और प्रजा के एकत्रित पाप मानों मनुष्य रूप धारण कर कुरूक्षेत्र में इसलिए इकट्ठे हुए थे कि आर्यावर्त की विद्या, कला और कौशल में जो कुछ अच्छा हो उसे मिट्टी में मिला दिया जाये। ऐसा जान पड़ता था मानो अब आर्य जाति का अन्तकाल आ पहुंचा। इस बात पर सहसा विश्वास नहीं होता कि भीष्म और युधिष्ठिर, अर्जुन और द्रोण युद्वक्षेत्र में खड़े होकर एक दूसरे से लड़ने को तैयार होंगे और गुरू तथा अपने अपने पद और नियम का विचार रखकर भी प्राचीन आर्यावर्त की श्रेष्ठता की अन्तिम झलक दिखाकर मानो उसे वही सफल करने के लिए इकट्ठे होंगे। यह कौरन जानता था कि महाराज शान्तनु के बाद तीसरी पीढ़ी में उसके वंश वाले यों ही युवावस्था की उमंग अपने बल के परीक्षार्थ सारे आर्यावर्त को मिट्टी में मिला देंगे और अपने हाथ से अपनी जाति को उन्नति के शिखर से उतारकर अवनति के गड्ढे में डाल

देंगे। हाय! इस आपस की लड़ाई ने भारत को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। महाभारत की लड़ाई में जिस तरीके से दोनों सेनाएं सुसज्जित की गई, सैनिको ने जो वीर भाव दिखलाए, जिस रीति से सेना खड़ी की गई और उनसे धावा कराया गया, यह सब वृतान्त पढ़कर एक दीर्घ श्वास लेना पड़ता है। माना कि इस वर्णन में 95 प्रतिशत कविकृतित्व है पर इसे घटाकर जो 5 प्रतिशत शेष बच जाता है वह भी हमें आठ आठ आंसू रूलाने के लिए बहुत है।

मनुष्य का दैहिक बल, सेना की गिनती अथवा ऐसी ही और बातों में चाहे कितनी कल्पना क्यों न खर्च की जाय पर संसार में न कोई ऐसा होमर जन्मा और न वर्जिल जिसने समरद्यिा से अनभिज्ञ या एक कायर जाति के लिए इलियड और औडिसी लिख डाली हो। होमर और वर्जिल की कविता से यूनानियों और रोमियों की वीरता और युद्व शस्त्रविद्या का भली भांति परिचय मिलता है। वैसे ही आर्य जाति को युद्वविद्या में जो निपुणता प्राप्त थी वह महाभारत से अच्छी तरह प्रकट होती है। कविकृतित्व के लिए जो अपवाद रखना हो वह रख लो, तब भी जो कुछ शेष बच जाता है वह नेत्रों के सामने एक विचित्र दृश्य खड़ा कर देता है। यह सच है ि कवह नेत्रों के सामने एक विचित्र दृश्य खड़ा कर देता है। यह यह है कि वीर आर्यो के उत्तराधिकारी अब उस भाषा का भी पूरा ज्ञान नहीं रखते जिसमें ये घटनाएं वर्णित हैं। इनके लिए इस युद्व का वर्णन ऐसा है जैसे अंग्रेजी भाषा से एक अनभिज्ञ पुरूष के लिए मिल्टन का पेरेडाइज़ लास्ट।

सारांश यह कि दोनों ओर से लड़ाई की ठन गई। दोनों ओर की सेना सुसज्जित होकर सामने आई। सेनाओं को स्थान स्थान पर बांटकर सेनापति नियत कर दिये गए। कौरवों की ओर से सेना का आधिपत्य भीष्म पितामह को दिया गया और दूसरी ओर से धृष्टद्युम्न को। शंख, घड़ियाल आदि बाजों की ध्वनि से आकाश पाताल एक हो गये। घोड़ों की टाप से पृथ्वी कम्पायमान हो गई। सेनापतियों की प्रभावशाली वक्तृता से सैनिकों का रक्त उबल रहा था। इस मैदान में जो कुछ था वह उत्तेजनापूर्ण था। भाई भाई से, दादा पोते से, गुरू शिष्य से लड़ने के लिए तैयार थे।

सारे स्नेह का त्याग करके आन की आन में भाई भाई के खून का प्यासा दीख पड़ने लगा। आह! क्या दृश्य था। आर्यावर्त जैसे महान् देश की सारी युयुत्सु जातियां अपने अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर लड़ने को तैयार थी।

सत्य है, किसी देश की समृद्धि को देखना हो तो वहां की सेना को देखें। अपने शत्रु के सामने आने के लिए प्रत्येक जाति अपनी पूरी शक्ति को प्रकट करने का यत्न करती है।

महाभारत की लड़ाई क आरम्भ के पहले कुरूक्षेत्र का मैदान एक प्रदर्शनी के समान था जिसमें भारतवर्ष का पूरा वैभव दिखाई देता था। विचित्र रंगमंच था। परदे विचित्र थे। बाजे गाने विचित्र थे और साथ ही अभिनेता भी अपने अपने गुण में पंडित थे, जो फिर इसके बाद आर्यावर्त के मंच पर नहीं आये। इस रंगस्थली में अर्जुन ने कृष्ण को आज्ञा दी कि मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा करो जिससे दोनों दलों पर मैं अच्छी तरह से नज़र डाल सकूं। कृष्ण ने तत्काल आज्ञा का पालन किया और अर्जुन की दृष्टि कुरूसेना पर पड़ी और उसने भीष्म और द्रोण को देखा तो उसका दिल हिल गया। इस समय वैराग्य के भाव उसके दिल में उठने लगे। यहां तक कि अर्जुन विवश होकर कह उठा कि सांसारिक सुख व राजपाट के लिए मुझे भीष्म और द्रोण जैसे सत्पुरूष और धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करना स्वीकार नहीं, मैं तो नहीं लड़ता। कृष्ण ने जब यह सुना तो आश्चर्यचकित होकर रह गये।

उन्होंने सबसे पहले अर्जुन को क्षत्रियत्व की अपील की औश्र तिरस्कार से काम निकालना चाहा। उसने दोनों सेनाओं की ओर संकेत करके पूछा, ''हे अर्जुन, आर्यो में तो ऐसी कायरता नहीं होती, जैसी इस समय तू दिखा रहा है। देख, दोनों दल लड़ने को कमर बांधे खड़े हैं। तू इस समय यदि इस मिथ्या वैराग्य में फंसकर मैदान छोड़कर भाग खड़ा होगा तो लोग क्या कहेंगे? तेरे शत्रु तेरी वीरता में संदेह करके तेरी निन्दा करते फिरेंगे। क्षत्रिय का धर्म लड़ना है। यदि क्षत्रिय लड़ाई में मारा जाएगा

तो वह सीधा स्वर्ग जाएगा। यदि तू सफल हुआ तो इस पृथ्वी का राज्य और सुख तेरे साथ रहेंगे'' पर अर्जुन के चित्त पर ऐसा आघात लगा था कि उसे समझाने का कुछ भी असर नहीं हुआ। निदान कृष्ण ने आत्मा के विषय का उपदेश करके अर्जुन में से आत्माा विषयक अज्ञान निकाल दिया। उन्होंने अर्जुन को समझाया,''आत्मा न तो जन्म लेती है न मरती है। न कोई इस जन्म दे सकता है और न मार सकता है। फिर तेरा यह विचार कैसा मिथ्या है कि मैं भीष्म और द्रोण को मारकार सांसारिक सुख भोगने की इच्छा नहीं रखता।

''न तुझमें यह शक्ति है, कि तू इनको मार सके और न उनमें यह शक्ति है किवह तुझे मार सकें। आत्मा पर न तो लोहे की मार है और न अग्नि की। मरने और मरने वाला तो यह शरीर है जो आत्मा का वस्त्र है। यह शरीर नाशवान् है और कर्म करने के लिए मनुष्य को दिया गया है। परमात्मा ने जो धर्म जीवात्मा के लिए नियत किया है उसे पूरा करने के लिए उसकी योग्यतानुसार उसे वह शरीर प्रदान किया जाता है। जीवात्मा का यह काम नहीं कि इस शरीर के रक्षार्थ धर्म का परित्याग करे। जीवात्मा का यही धर्म है कि शरीर से वही काम ले जिसके लिए यह दिया गया है न कि अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए। जो लोग अपनी इच्छा को प्रधान मानकर काम करते हैं वे कर्म के फेर में फंसे रहकर यथार्थ धर्म से दूर रह दुख सुख के बन्धन में फंसे रहते हैं। परन्तू जो जीवात्मा अपनी इच्छा का परित्याग कर शरीर को निष्काम कर्म में लगाते हैं वे सच्चाई को पाकर शारीरिक प्रयोजन और उसके बन्धनों से स्वतंत्र हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अतएव तुझे उचित है कि क्षात्र धर्म का पालन करता हुआ मेरे और तेरे, अथवा इसके और उसके कुविचार को छोड़ दे और अपने धर्म पर स्थिर रह। ऐसा न करने से तू घोर पाप का भागी बनेगा और नरक में पड़ेगा।''

नोट– पाठक! यह कथन उस उपदेश का सार है जो कृष्ण ने

कुरूक्षेत्र में अर्जुन को दिया था और जिसके प्रभाववश अर्जुन फिर लड़ने को बद्वपरिकर हो गया था। साधारणतः यह विचारा जाता है कि गीता का समस्त उपदेश क ृष्ण ने अर्जुन को युद्वक्षेत्र में किया था। हमको इसे मानने में संकोच है, पर यदि यह सत्य है तब भी गीता का सार वही है जो हमने ऊपर कहा है। जब तक लड़ाई होती रही तब तक कृष्ण बराबर अर्जुन के साथ रहे और यद्यपि उन्होंने स्वयं शस्त्र नहीं चलाये, पर इसमें संदेह नहीं कि कृष्ण की उपस्थिति से पाण्डवों को बड़ी सहायता मिलती रही। सारी लड़ाई में वे पाण्डवों के मन्त्रदाता बने रहे और स्थान स्थान पर इनकी सेना को प्रोत्साहित करते रहे। इस युद्व का सविस्तार वर्णन करना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है, अतः हम केवल उन घटनाओं का ही उल्लेख करेंगे जिनसे कृष्णचन्द्र का संबंध है या जिससे कृष्ण के चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

अट्ठाईसवां अध्याय

भीष्म की पराजय

जिस दिन प्रातःकाल युद्ध आरम्भ हुआ उसके पहले दिन सायंकाल युधिष्ठिर ने कवच और शस्त्रादि की ओर प्रस्थान किया। उसके भाई तथा उसकी सेना आश्चर्य में थी कि महाराज यह क्या कर रहे हैं, शस्त्र रहित होकर शत्रु की ओर क्यों जा रहे हैं? शत्रु दल भी चकित था कि युधिष्ठिर यह क्या कर रहे हैं। उनके भाई उनके पीछे दौड़े और उनसे उनके इस विचित्र कार्य का कारण पूछने लगे। उनके साथ कृष्ण ने अर्जुन आादि भाइयों को समझाया कि युद्व से पहले युधिष्ठिर अपने कुल के ज्येष्ठ भीष्म और आचार्य से लड़ाई करने की आज्ञा लेने चले हैं, क्योंकि शास्त्र ऐसा आदेश देते हैं। युधिष्ठिर अपने भाइयों को साथ लिए भीष्म के डेरे में पहुंचे और उनके चरणों पर सिर धर दिया और लड़ाई की आज्ञा मांगी। भीष्म युधिष्ठिर की इस नीति पर बड़े प्रसन्न हुए और आर्शीवाद दिया, ''पुत्र! मैं प्रसन्नचित से तुम्हें लड़ाई करने की आज्ञा देता हूं। मेरी समझ में तू सत्य के मार्ग पर है। परमात्मा तेरी वृद्वि करे।'' भीष्म का आशीष लेकर युधिष्ठिर अपने आचार्य द्रोण के पास गये और इसी तरह उनसे आज्ञा प्राप्त की। फिर कृपाचार्य इत्यादि के पास से होते हुए अपने डेरे पर लौटे।

इसके पश्चात् लड़ाई छिड़ गई। इस दिन तक कुरूसेना लड़ती रही। कुरूसेना का सेनापति भीष्म अपने काल का विख्यात योद्वा था। पाण्डवों की सेना में यदि उसकी बराबरी का था तो केवल अर्जुन था।

दूसरे में ऐसी शक्ति नहीं थी कि भीष्म के बाणों के आगे ठहरता। पाण्डव अच्छी तरह से जानते थे कि जब तक भीष्म जीवित रहेंगे तब तक जय पाना असंभव है, इसलिए वे अनेक प्रकार से भीष्म पर आक्रमण करते थे, पर हर बार भाग खड़े होते थे। तीन दिन की लड़ाई में भीष्म ने अनगिनत प्राणों को नष्ट किया। रक्त की धारा बह चली। जिधर वह जा पड़ता था उधर ही बात की बात में सैकड़ों और हजारों खेत रहते थे। कृष्ण को इन तीन दिनों की लड़ाई में आभास हो गया कि अर्जुन जी से नहीं लड़ता और भीष्म पर मार करने से झिझकता है।

उन्हें विश्वास था कि अर्जुन के अतिरिक्त और किसी में यह पुरूषार्थ नहीं जो भीष्म को नीचा दिखावे और जब तक भीष्म जीवित है तब तक पाण्डवों का मनोरथ सफल होना कठिन है। इसलिए तीसरे दिन की लड़ाई में जब उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि अर्जुन जी तोड़कर नहीं लड़ता और भीष्म पर धावा करते समय मुंह मोड़ता है तो वे मारे क्रोध के रथ से उतर पड़े और शस्त्र हाथ में लेकर कहते हुए भीष्म की ओर चले कि जिसको जाना हो वह चला जाए, जो मरने से डरता है वह पीछे रहे। यदि कोई भीष्म पर वार नहीं करता तो मैं खुद भीष्म को मार गिराऊंगा। कृष्ण की यह दशा देखकर अर्जुन कुछ लज्जित हुआ और मन में सोचने लगा कि कृष्ण ने तो लड़ाई में शस्त्र न चलाने का प्रण किया था। यदि क्रोधवश ये अपना प्रण भंग कर बैठे तो इसका पाप मेरे सिर होगा। यह सोचकर वह भी कृष्ण के पीछे हो गया। कुछ दूर जाने पर उनको पकड़ लिया और सशपथ कहने लगा,''आप चिन्ता न करें, मैं भीष्म को मारूंगा।,'' इस सारी योजना से कृष्ण का जो अभिप्राय था वह सिद्व हुआ। अर्जुन से यह बात सुनके कृष्ण ठंडे हो गये और फिर रथ पर आ बैठे। अब अर्जुन ने बड़े उत्साह से युद्व आरम्भ किया। यहां तक की लड़ाई का समा बदल दिया और हजारों आदिमियों को मिट्टी में मिला दिया। पर फिर भी जब तक भीष्म जीवित थे तब तक लड़ाई का बंद होना असंभव था, इसलिए पाण्डवों ने पूरा बल उनको

पराजित करने की ओर लगाया।

उधर दुर्योधन और उसके भाइयों ने पूर्ण रीति से भीष्म की रक्षा की और उनकी सहायता का प्रबंध किया। यहां तक कि सात दिन इसी दांवपेंच में समाप्त हो गये। नित्यप्रति हजारों सैनिको का वारा न्यारा होता था परन्तू सात दिन तक न भीष्म रणक्षेत्र से हटे, न अर्जुन को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचा। सातवें दिन अर्जुन और शिखण्डी ने मिलकर भीष्म को अपने बाणों से पिरो (बांध) दिया। यहां तक कि वृद्व, बाल जितेन्द्रिय, बाल ब्रह्मचारी योद्वाओं के योद्वा के योग्य न रहा और गिर गया। जब भीष्म के गिरने का समाचार सैन्य दल में फैल गया तो द्रोण की आज्ञा से लड़ाई बन्द हो गई और दोनों ओर के योद्वा मान मर्यादा के विचार से उनके सिरहाने एकत्रित हुए। भीष्म ने तकिये की इच्छा प्रकट की जिस पर दुर्याधन आदि कौरवों ने भांति भांति के बहुमूल्य और नरम तकिये मंगाये, जिनको भीष्म ने स्वीकार नहीं किया और अर्जुन की ओर ध्यान देकर कहा कि मेरी समयानुकूल अवस्था के अनुसार मेरे लिए तकिये बना दे। अर्जुन ने ऐसी योग्यता से तीन बाण भूमि पर चलाये जिससे इन तीन बाणों से भीष्म के सिर के लिए तकिया बन गया। बाण–शय्या के लिए बाणों का तकिया उपयुक्त था। भीष्म बहुत प्रसन्न हुए और अर्जुन को आर्शीवाद दिया।

भीष्म की मृत्यु के संबंध में यह कहावत प्रचलित है कि जिस समय वह धरती पर गिरे वहां अनगिनत बाण थे और इन्हीं बाणों पर पड़े हुए कई दिनों तक जीवित रहे, मानो उनकी शय्या बाणों की बनी हुई थी। इसीलिए अर्जुन ने बाणों का सिरहाना उनके लिए बनाया जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

नोट– भीष्म और अर्जुन के युद्व के संबंध में एक और किवंदन्ती है जो साधारण दृष्टि से पीछे की मिलावट प्रतीत होती है। कथा इस प्रकार है कि जब नौ दिन तक लड़ाई होती रही और भीष्म को कुछ हाानि नहीं पहुंची तो पाण्डव अधिक चिंतित हुए। तब कृष्ण ने युधिष्ठिर को यह

सलाह दी कि भीष्म के पास चलो और उसी से पूछो कि तुमको किस तरह से मारा जाय। जब युधिष्ठिर ने भीष्म के समीप जाकर यह प्रश्न किया तो भीष्म ने उत्तर दिया कि तुम्हारी सेना में जो युवराज शिखंडी(राजा पांचाल का पुत्र) है उसका स्वरूप स्त्रियों के सदृश है। यदि वह मेरे ऊपर आक्रमण करे तो वह निश्चय ही मुझे मारने में समर्थ होगा, परन्तू मैं उससे स्वयं युद्व नहीं करूंगा।

भीष्म के पास से लौटते पर पाण्डवों ने यह निश्चय किया कि दूसरे दिन शिखंडी को ही युद्व का सेनापति बनाकर धावा किया जाये। जब दूसरा दिन हुआ तो अर्जुन ने शिखंडी को ही अगुआ करके धावा कर दिया। भीष्म भी इस युद्व में अर्जुन को कठोर आघात पहुंचाते रहे और दुर्योधन की सेना के अन्य शूरवीर लोग भी शिखंडी को लक्ष्य करके निशाने मारते रहे।

महाभारत की शोध करने वाले व्यक्ति तो इस बात को पीछे की मिलावट ही मानते हैं क्योंकि यह समस्त वृत्तान्त पाठक को पूरा विश्वास नहीं दिलाता। प्रथम तो भीष्म जैसे दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति के लिए यह कब संभव था ि कवह शत्रु को अपनी मृत्यु का उपाय बतलाकर दुर्योधन से विश्वासघात करता। भीष्म तो दुर्योधन के पक्ष में युद्व की प्रतिज्ञा कर चुका था क्योंकि वह राजा धृतराष्ट्र का सभासद था और और विपक्ष में उनके वंश विरोधी महाराज पांचाल थे। अन्तःकरण से तो वह युधिष्ठिर के ही पक्ष में था और जानता था कि दुर्योधन और धृतराष्ट्र अधर्म पर हैं, परन्तू अपनी मानसिक इच्छाओं द्वारा वह उन कर्त्तव्यों को समूल नष्ट नहीं कर सकता था जो कौरव राज्य के प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित सभासद होने के संबंध से उस पर थे। इधर युधिष्ठिर को भी उसने राजा मान लिया था। न तो वह अपने राजा के विरोध में शस्त्र प्रहार करने में समर्थ था और न युद्व से विमुख ही हो सकता था। इसके अतिरिक्त यह प्रकट है कि शिखंडी के रण में सामने आने पर भी भीष्म उस समय तक लड़ता रहा जब तक अर्जुन ने अपने बाणों की बौछार से प्रथम ही उसके सारथी को

मार नहीं डाला। फिर उसके धनुष को भी गिरा दिया। भीष्म जो तीर निकालते, अर्जुन उनको भी काट डालता था। सशक्त होने पर भीष्म अपनी तलवार और ढाल लेकर रथ से उतरने लगा, कदाचित् इस विचार से कि अब वह तलवार की लड़ाई लड़ेगा, परन्तू अर्जुन ने बाणों की लगातार वर्षा कर उसकी ढाल और तलवार भी हाथ से गिरा दी। यहां तक कि वृद्ध भीष्म नवयुवक अर्जुन के तीरों से अशक्त हो भूमि पर गिर पड़ा। उसके गिरते ही महाभारत की लड़ाई का प्रथम दृश्य समाप्त हो गया। बाणों की शय्या पर पड़े हुए भीष्म ने दुर्योधन को मेल करने का उपदेश किया, परन्तू दुर्योधन कब मानने लगा। उसको अपनी सेना पर इतना भरोसा था कि भीष्म की पराजय के पश्चात् भी उसको अपनी अन्तिम जय की पूरी आशा थी।

उन्तीसवां अध्याय

महाभारत के युद्व का दूसरा दृश्य : आचार्य द्रोण का सेनापतित्व

भीष्म विजय के अगले दिन दुर्योधन ने अपनी सेना का सेनापतित्व आचार्य द्रोण को सौंपा। यद्यपि द्रोण ब्राह्यण थे तथापि युद्वविद्या और शस्त्रविद्या में वे अपने समय के आचार्य तथा बड़े निपुण थे। युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, दुर्योधन इत्यादि सब इनके शिष्य थे जिनमें अर्जुन सबसे योग्य था। युद्व के कुछ तरीके तो ऐसे थे जो उन्होंने केवल अर्जुन को ही सिखाये थे, अन्य किसी को नहीं।

द्रोण के सेनापतित्व में युद्व बड़े वेग से आरम्भ हुआ और अधिक मारकाट होती रही। एक दिन अर्जुन लड़ाई का मैदान छोड़कर युद्वक्षेत्र के एक किनारे पर कौरव सेना के उस भाग से युद्व कर रहा था जो द्रोण ने दुर्योधन के आधिपत्य में भेजा था। पीछे से द्रोण ने पाण्डवों पर ऐसे दावपेंच चलाये जिससे वे घबरा गये। उसने पाण्डवों के एक बड़े समूह को ऐसे व्युह में घेर लिया जिससे उनका बचना कठिन हो गया। पाण्डवों की सेना में अर्जुन के अतिरिक्त और कोई इस व्यूह की लड़ाई को नहीं जानता था। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, जो केवल सोलह साल का युवक था, किंचित इस व्यूह विद्या को जानता था। अतः वह वीरतापूर्वक रणक्षेत्र में आया और अपनी वीरता के करतब दिखलाने लगा। सोलह वर्ष के इस युवक ने कौरव सेनापतियों व सरदारों इतना कष्ट दिया जिससे उन्हें इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं सूझा कि सात चुने हुए महारथी (जिनमें

द्रोण स्वयं भी सम्मिलित था) एकत्र होकर उस पर आक्रमण करें। अभिमन्यु अभी बालक ही था। उसमें इतनी सामर्थ्य कहां थी कि इन सात योद्धाओं का सफलता से सामना करता। बेचारा युद्ध करता हुआ रण में गिर गया और गिरते ही किसी ने उसका सिर काट लिया। अभिमन्यु का वध होना था कि पाण्डवों के दल में रोना पीटना आरम्भ हो गया। अभिमन्यु कृष्ण की बहन सुभद्रा का पुत्र था और सारे पाण्डवों को उससे अधिक प्रेम था। सारी सेना उसकी सुन्दरता, वीरता, युद्ध–कौशल तथा बाणविद्या पर मोहित थी। सायंकाल जब लड़ाई बंद हुई,कृष्ण और अर्जुन भी लड़ते लड़ते शिविर में आये तो सारी सेना की उन्होंने रोते पीटते देखा। अर्जुन की आंखों के सामने तो अन्धकार छा गया। यधिष्ठिर अलग बेसुध थे। अंत में कृष्ण ने अपनी चतुर नीति से सबको धैर्य दिया और अर्जुन को समझाया। उन्होंने कहा, ''अभिमन्यु तो युद्ध करता हुआ सीधा स्वर्गधाम को सिधारा। तुम क्षत्रिय पुत्र की मृत्यु पर रूदन कर क्यों अपना परलोक बिगाड़ते हो? क्षत्रियों के लिए तो ऐसी मृत्यु सौभाग्य है।'' इसी प्रकार उसने अपनी बहन सुभद्रा और दुसरे सैनिकों को भी संतोष देकर शांत किया।

अर्जुन को यह बतलाया गया कि सिंधु के राजा जयद्रथ ने अभिमन्यु का सिर काटा है। अर्जुन ने उसी समय यह प्रतिज्ञा की कि कल सांयकाल से पहले मैं जयद्रथ को मारकर अपने पुत्र का बदला लूंगा, नही तो स्वयं जीते जी आग में भस्म हो जाऊंगा। कृष्ण को अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से बड़ी चिन्ता हुई। सोचा कि अर्जुन की इस प्रतिज्ञा की खबर अभी दुर्योधन तक पहुंच जाएगी और वह दूर ही दूर रहे। उसके लिए यह कठिन भी नहीं होगा कि कल सायंकाल तक किसी न किसी प्रकार जयद्रथ को बचा सके। यदि कल सांयकाल तक जयद्रथ नहीं मारा गया तो बस अर्जुन का अंत है। उन्होंने अपने रथवान को आज्ञा दी कि कल मेरा रथ पूर्ण रीति से सुसज्जित रहे, क्योंकि अर्जुन को बचाने के लिए यदि आवश्यकता हुई तो मैं स्वयं ऐसी व्यवहार में लाऊंगा जिससे जयद्रथ मारा जावे और अर्जुन बचा रहे।

दूसरे दिन जब युद्ध आरम्भ हुआ तो दुर्योधन ने अपनी सेना को इस तरह से जमाया जिससे जयद्रथ परले किनारे पर खड़ा रहा और सारी तैयारी उसके बचाव के लिए की गई क्योंकि कौरवों के लिए जयद्रथ का सायंकाल तक जीवित रहना जय प्राप्त करने के समान था। पाण्डवों की सेना में से यदि अर्जुन निकल जाता तो फिर दुर्योधन के जीतने में क्या शंका थी। अगले दिन कृष्ण ने सारथी कला के ऐसे गुण दिखावे और युद्ध के बीचोंबीच व्यूह को चीरकर इस रीति से अर्जुन को जयद्रथ के सामने उपाय नहीं रहा। ऐसा क्यों न होता जबकि अर्जुन जैसे महाबली योद्वा और कृष्ण जैसे सारथी हों। कृष्ण तो सारथी विद्या का कौशल दिखा सकते थे परन्तू उनकी कला किस काम आती यदि अर्जुन उपस्थित वीरों से अपने आपको न बचाता, क्योंकि सारे रास्ते भंयकर युद्व होता रहा। कौरव सेना के सब बड़े बड़े योद्वा बारी बारी लड़ते। कभी भिन्न भिन्न और कभी कई लोग एकत्र होकर अर्जुन से युद्व करते रहे, परन्तू वीर अर्जुन सबसे युद्व करता हुआ किसी को मारता, किसी से बचता, किसी को अपनी सेना के दूसरे योद्वाओं को सौंपता, अपनी जान को हथेली पर लिए बाणवर्षा, निशानेबाजी और युद्व के करतब दिखलाता हुआ जयद्रथ के सामने जा पहुंचा और उसको युद्व करने पर बाध्य किया। युद्व में उसका सिर काटकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

इस प्रकार कई दिन तक लड़ाई होती रही और दोनों दलों के प्रसिद्व क्षत्रिय जान की बाजी लगाकर मृत्यु के मुंह में जाते रहे। द्रोण कई दिन तक बड़ी वीरता तथा होशियारी से पाण्डव सेना का नाश करते रहे, परन्तू अन्त में वे इतने घायल हो गये कि उनके हाथ से शस्त्र गिर गये और धृष्टद्युम्न ने उनका सिर काट डाला। द्रोण की मुत्यु से महाभारत के युद्व का दूसरा दृश्य समाप्त हुआ। दूसरा दृश्य क्या समाप्त हुआ मानो आधा भाग युद्व ही समाप्त हुआ।

नोट– द्रोण की मृत्यु के संबंध में भी एक किंवदन्ती है जो वास्तव में पीछे से मिलाई हुई मालूम होती है। यह इस प्रकार है, द्रोण ने युद्व में इस प्रकार के शस्त्र प्रयोग किये जिन्हें दूसरी ओर के लोग नहीं जानते थे।

और इसलिए वे इन शस्त्रों की मार से बचने की प्रणाली से भी अनभिज्ञ थे। परिणाम यह हुआ कि द्रोण ने पाण्डव सेना को अत्यन्त हानि पहुंचाई। इस हानि को देखकर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को यह सलाह दी कि द्रोण को किसी न किसी प्रकार मारना चाहिए, चाहे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई झूठी और अधर्म की चाल भी क्यों न चलती पड़े। अतः उन्होंने यह सम्मति दी कि यदि द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा मारा जाये तो वे लड़ना छोड़ देंगे। इसलिए झूठमूठ ही उनको यह खबर पहुंचा दी जाये कि अश्वत्थामा मर गया है।

अर्जुन और युधिष्ठिर ने इस सलाह को अस्वीकार किया, परन्तू भीम और अन्य दरबारियों को यह चाल बहुत पसंद आई। उन्होंने युधिष्ठिर पर दबाव डाला ि कवे स्वयं अपने मुख से यह कहें, क्योंकि उनके अतिरिक्त और किसी के कथन का द्रोण विश्वास नहीं करेंगे।

युधिष्ठिर ने बहुत कुछ संकोच किया परन्तू भीम इत्यादि ने उन पर बड़ा जोर डाला। अतः यह निश्चित करके अश्वत्थामा नाम के एक हाथी को मारा गया और द्रोण के आगे यह प्रकट किया गया कि तुम्हारा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। द्रोण ने किसी के कहने पर विश्वास नहीं किया और युधिष्ठिर से पूछा। युधिष्ठिर ने कहा कि ''हां, अश्वत्थामा मारा गया'' परन्तू धीरे से यह भी कह दिया –'हाथी'। द्रोण ने 'हाथी' तो सुना नहीं और अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर अत्यन्त दुखित हुए। यद्यपि उसके बाद भी वे बराबर लड़ते रहे परन्तू दिल टूट जाने से दुःखित होकर उन्होंने शस्त्र डाल दिये। उनके शस्त्र डालते ही विपक्षियों ने उनका सिर काट डाला।

अनेक विद्वानों की सम्मति है कि यह कहानी पीछे की मिलावट है। द्रोण ब्राह्मण थे और धृष्टद्युम्न क्षत्रिय था। क्षत्रिय के लिए ब्राह्मण को मारना उचित नहीं था। इस कारण पांचाल दरबार के किसी कवि ने अपने राजपुत्र से ब्राह्मण हत्या का पाप दूर करने के लिए इस युद्ध का सारा बोझ श्रीकृष्ण के सिर मढ़ दिया है। श्रीकृष्ण को तो स्वयं परमेश्वर माना ही जाता है। परमेश्वर सब कुछ कर सकता है और उसके लिए सब कुछ उचित है, इस कारण उनके विचार से श्रीकृष्ण पर कुछ दोष नहीं आ

सकता। सम्भ्सवतः इस कहावत का एक और अभिप्राय भी है अर्थात् लड़ाई में धोखा, दगाबाजी, झूठ का व्यवहार उचित ठहराया जाता है। तथापि स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस समय यह कहानी बढ़ाई गई उस समय भी आर्यपुरूषों में सत्य का इतना मान था, सर्वसाधारण को झूठ व धोखे से इतनी घृणा थी ि कइस कहानी के बहाने वाले महाशय को यह भी लिखना पड़ा कि युधिष्ठिर ने जब यह असत्य कहा तो इससे उसका रथ, जो सत्यता के कारण पृथ्वी से कुछ ऊंचाई पर चला करता था, वह पृथ्वी के संग लग गया। युधिष्ठिर के लिए यह प्रसिद्व है कि इससे पहले उसने कभी झूठ नहीं बोला था और उसकी सत्यता का प्रताप ऐसा था कि जिस रथ पर वह बैठता था वह रथ पृथ्वी पर गिर पड़ा और अन्य साधारण मनुष्यों में तथा उसमें कोई भेद न रहा। उपर्युक्त लेख से यह प्रकट है कि द्रोण अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनने पर भी युद्व करता रहा। हम उन ग्रन्थकर्ताओं से सहमत हैं जिनकी सम्मति में यह कहानी पीछे की मिलावट और मूल घटना के विरूद्व प्रतीत होती है। द्रोण के देहान्त के बाद का भाग सब का सब गप मालूम होता है। कवि को अपनी बात निभाने के लिए पाण्डव शिविर में झगड़ा करवाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अर्जुन इत्यादि की इस धोखबाजी पर युधिष्ठिर को धिक्कार और भीम तथा धृष्टद्युम्न द्वारा उनकी सहायता आादि सारे उल्लेख प्रक्षिप्त हैं।

तीसवां अध्याय

महाभारत के युद्व का तीसरा दृश्य : कर्ण और अर्जुन का युद्व

युद्व तो भीष्म और द्रोण के मरने से ही समाप्त हो गया था, परन्तू दुर्योधन को कर्ण की बाणविद्या और शस्त्रविद्या पर इतना भरोसा था कि अभी तक सफलता की टिमटिमाती रोशनी कभी कभी उसकी आंखों के समाने झलक दिखा जाती थी। कर्ण ने यह शपथ खाई थी कि वह अर्जुन को मारेगा या स्वंय युद्व में उसके हाथ से मारा जायेगा।

द्रोण के मरने पर दुर्योधन ने कर्ण को अपनी सेना का सेनापति बनाया। कर्ण ने भी युद्व में इस प्रकार हाथ दिखलाये जिससे देवता भी उसकी वीरता का सिक्का मान गए। कई अवसरों पर तो उसने युधिष्ठिर को युद्व में नीचा दिखाया और पाण्डव सेना को बहुत हानि पहुंचाई। श्रीकृष्ण ने यह चाल चली की प्रथम तो अर्जुन को इसके सामने युद्व में आने से रोकता रहा। जब कर्ण पाण्डव सेना के विख्यात योद्वाओं से लड़ता लड़ता थक गया और पाण्डव दल में कोई अन्य वीर उसके सामने लड़ने वाला न रहा तो कृष्ण ने अर्जुन को कर्ण के सामने कर दिया। कर्ण और अर्जुन का युद्व क्या था मानो भूचाल था। दोनों ने तीरों की बौछार से युद्वस्थल को धुंआधार कर दिया और शस्त्रविद्या के ऐसे कौशल दिखलाये जिससे पांच हजार वर्ष के बीतने पर भी अभी तक अर्जुन और कर्ण का नाम सर्वसाधारण के सामने है। इस युद्व में कृष्ण पर भी बाणों और शस्त्रों की बहुत मार रही, परन्तू वह अपने समय का एक ही पुरूष

था जो खूब होशियारी से अपने आपको बचाता रहा और अर्जुन को लड़ाई के लिए उत्तम से उत्तम स्थान पर ले जाकर खड़ा करता रहा। एक समय कर्ण के रथ का पहिया कीचड़ में फंस गया। कर्ण स्वयं पहिये को निकालने के लिए रथ से नीचे उतरा और युद्व–धर्म के नाम पर अर्जुन से अपील की कि जब तक मैं फिर रथ पर न बैठ जाऊं, युद्व रूका रहे। उस समय कृष्ण ने यद्यपि संकेत से अर्जुन को तो रोक दिया परन्तू बड़े जोर से कर्ण को इस बात पर धिक्कारा कि अब अपनी जान बचाने के लिए उसे धर्म याद आ गया। उस दिन धर्म को कहां भूल गया था, जब तेरी उपस्थिति में द्रौपदी को राजसभा में बेइज्जत किया गया था, जब तुम सात आदमियों ने इकट्ठे होकर बेचारे अभिमन्यु को मारा था, जब तेरी सम्मति से दुर्योधन ने पाण्डवों के महल को आग लगा दी थी आादि। कर्ण इस धिक्कार का तो क्या जवाब देता। रथ का पहिया निकालकर फिर लड़ने लग और अंत में अर्जुन के हाथ से मारा गया। कर्ण के मरते ही कौरव सेना ने भागना आरम्भ किया और दुर्योधन के शिविर में दुःख और शोक छा गया। हां! ललच और क्रोध ने दुर्योधन की आंखों पर ऐसा पर्दा डाल दिया था कि इतनी मारकाट पर भी उसका चित्त नहीं पिघला और अब भी उसके दिल में राज्य की अभिलाषा गई नहीं।

इकतीसवां अध्याय

अन्तिम दृश्य व समाप्ति

दूसरे दिन मद्रदेश के राजा शल्य सेनापति बनकर युद्व में आये, परन्तू थोड़ी देर में ही खेत रहे। राजा के मरते ही सेना तितर बितर हो गई।

दुर्योधन भाग गया और एक वन में जाकर छिप रहा था। परन्तू मृत्यु कब किसे अवसर देती है। पाण्डव उसका पीछा करते हुए वन में पहुंचे और उन्होंने दुर्योधन के स्थान का पता लगा लिया। युधिष्ठिर ने जोर से पुकारकर उससे कहा, ''हे दुर्योधन! स्त्रियों की तरह छिपकर अपने वंश पर क्यों धब्बा लगाता है। बाहर आ, युद्व कर। यदि तू हममें से एक को भी लड़ाई में मार डाले तो हम सब राजपाट तुझे सौंपकर जंगल को चले जाएंगे।''

युधिष्ठिर की इन बातों पर दुर्योधन के चित्त में फिर आशा की चिंगारी चमकी और उसने कहा, '' मै। राज्य के वास्ते तो अब लड़ना नहीं चाहता, परन्तू बदला लेने की आग मेरे ह्नदय में भड़क रही है। मैं अपने साथियों की मृत्यु का बदला लेने के लिए तुमसे लड़ने को उद्यत हूं। राज्य तो मैंने तुझको दे दिया। जा अब इस वीरान जंगल पर तू राज्य कर, ऐसा राज्य दुर्योधन के काम का नहीं।'' युधिष्ठिर ने फिर कहा, '' हे दुर्योधन! मुझे दान की तरह तुझसे राज्य लेना स्वीकार नहीं है। अब मैदान में आकर युद्व कर। यदि तू हममें से किसी एक को भी मार ले तो राज्य तेरा हुआ और हम सब भाई पुनः वन में चले जांऐगे।'' दुर्योधन ने कहा, ''अच्छा!

मुझे युद्व स्वीकार है, परन्तू मैं गदा से युद्व करूंगा। गदा से युद्व करने की जिसमें सामर्थ्य हो वह मेरे सामने आ जाये। हे युधिष्ठिर, तेरे और अर्जुन जैसे दुर्बल लोगों से मैं क्या लड़ू? बेशक भीम मेरी टक्कर का है। मैं उससे लड़ता हूं।'' अन्ततः भीम और दुर्योधन मस्त हाथियों की तरह एक दूसरे के साथ टकराने लगे। अन्त में भीम ने अवसर पाते ही दुर्योधन की जांघ पर गदा का ऐसा प्रहार किया जिससे वह चुकनाचूर होकर गिर पड़ा। उसके गिरते ही भीमसेन ने उसके सिर पर लात मारी। युधिष्ठिर और कृष्ण ने उसको ऐसा करने से रोका क्योंकि आर्य पुरूषों में परास्त हुए बैरी का अपमान करना बहुत बुरा समझा जाता है। दुर्याधन की इस हार से महाभारत युद्व का अन्त हो गया। पाण्डव जीत करके अपने डेरों में वापस आये और अपनी विजय की खुशी में नाचरंग करने लगे।

युद्व में असंख्य लोगों के मारे जाने के कारण यह नाचरंग बहुत फीका था। पुत्रों, भाइयों, संबधियों और मित्रों की लाशें रणभूमि में पड़ी हुई नाचरंग के इन उत्सवों को दुःखमय बना रही थी, परन्तू तो भी यह जीत ही थी जिससे पाण्डव प्रसन्न थे। युद्व की समाप्ति हुई, शत्रु मारे गये, सत्य की जय हुई, दुर्योधन और उसके भाइयों का प्रलाप और अत्याचार समाप्त हुआ और द्रौपदी की बेइज्जती का बदला भी खूब लिया गया। अन्ततः इस आनन्द वेला में पांचों पाण्डव उस दिन शिविर से बाहर रहे और रात को भी वहां नहीं आए। इधर तो विजय के आनन्द में वे खुले जंगल की वायू का आनन्द ले रहे थे और उधर मृत्यु देवता अपनी घात में लगा हुआ था।

जब पाण्डव दुर्योधन को रणभूमि में छोड़कर वापस चले गये तो उसकी सेना के तीन बचे हुए वीर अर्थात् अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र), कृपाचार्य और कृतवर्मा उसके पास आए। वे उसको इस बुरी अवस्था में देखकर रोने लगे एक समय वह था जब दुर्योधन का सेनापति था। गगनचुम्बी सुन्दर महलों में निवास करता था। उत्तम और कोमल शय्या।

पर सोता था। सैकड़ो–हजारों मनुष्य उसकी आज्ञा के पालन के लिए हर समय प्रस्तुत रहते थे। वह आनन्द भोग में निमग्न था तथा राज्य और सम्पति के नशे में ऐसा चुर था, कि बुरे व भले, न्याय–अन्याय पर उसे धिक्कारते थे। थोड़े ही दिन हुए थे कि उसने एक बड़ी सेना के साथ धूमधाम व प्रचंड उत्साह से थानेश्वर के मैदान में डेरा डाला था और उसको कभी स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं आया था कि इन अगणित मनुष्यों के इकट्ठे होने का शायद यही फल हो जो आज उसके नेत्रों के सामने है। भाई, मित्र, संबंधी जो थे वे आज चारों ओर खूनी वस्त्र पहने हुए मिट्टी में थे। पक्षी उड़ उड़कर आते और उनके शरीर के मांस को नोच कर ले जाते थे। इन सका प्रिय नेता दुर्योधन स्वयं भी शत्रु के हाथ से परास्त होकर जीने से निराश, साथियों के साथ प्रेम का दम भरता हुआ उस भूमि में पड़ा था। परमात्मा ने उसको इसलिए अब तक जीता रखा था जिससे ि कवह अपनी मूर्खता का परिणाम अच्छी तरह से देख, समझ और अनुभव करके अपने प्राण छोड़े। हां! कैसा भयानक और शिक्षाप्रद दृश्य था। कौरव वंश का अधिपति हस्तिनापुर के राजा का पुत्र और उसकी यह अवस्था! ऐसे अवसर पर तो शत्रु भी रो देता है। अश्वत्थामा और कृपाचार्य इत्यादि को तो रोना ही था। रोने धोने के पश्चात् अश्वत्थामा ने दुर्योधन पर प्रकट किया कि बदला लेने की आग उसके ह्रदय में वेग से जल रही है। उसने दुर्योधन से बदला लेने की आज्ञा मांगी। फलतः दुर्योधन ने कृपाचार्य इत्यादि की ओर लक्ष्य करके उस समय अश्वत्थामा को अपनी सेना का सेनाध्यक्ष निश्चित किया और उसको युद्व जारी रखने की आज्ञा दी।

कौरव वंश के अभाग्य की समाप्ति नहीं हुई थी। द्रोण के इस वीर पुत्र के चित्त में बदले की आग जल रही थी। उसने यह ठान लिया था

कि चाहे धर्म से या अधर्म से मैं अपने पिता का बदला लेकर ही मरूंगा।

कौरव सेना के ये तीनों बचे हुए वीर आपस में विचार करने लगे कि किस प्रकार से इस अभिलाषा को पूरा किया जाये। कृपाचार्य ने तो धर्म की लड़ाई लड़ने की सलाह दी, परन्तू अश्वत्थामा ने राात्रि को धोखे से युद्व करने का विचार प्रकट किया। कृपाचार्य ने उसे समझाया कि यह कार्य महापाप है। ऐसे महापाप काम से तेरी आत्मा घोर नरक में पड़ेगी जिससे छुटकारा भी कठिन होगा। जीवन की अंतिम अवस्था में इस प्रकार के भीरूपन का कार्य वीरता तथा प्रतिष्ठा पर बट्टा लगाएगा। सारी आयु की कीर्ति, यश और प्रसिद्वि पर पानी फिर जाएगा। ब्राह्मण संतान तथा शस्त्र विद्या में निपुण होकर तुझे यही योग्य है कि नू इस प्रकार के पाप से अपने पवित्र जीवन पर धब्बा न लगा। यद्यपि कृपाचार्य ने अपनी योग्यता से अश्वत्थामा को इस अधर्म की कार्यवाही न करने का उपदेश किया, परन्तू अश्वत्थामा पर कोई भी असर नहीं हुआ। ब्रह्मकोप शान्त नहीं हुआ। कृपाचार्य की धार्मिक वक्तृता की हर एक बात का अश्वत्थामा के चित पर ऐसा असर होता था जैसे जलती हुई आग में घी की आहुति देने से होता है। क्रोध में अपने आपे से बाहर हुआ अश्वत्थामा बदले की आग में भस्म होता हुआ चुपके से रात को पाण्डव शिविर में घुस गया। सबसे पहले तो वह सीधा पांचाल देश के राजा धृष्टद्युम्न के डेरे की ओर बढ़ा जिसने उसके बाप को मारा था। उसके रक्त में हाथ रंगकर फिर छोटों बड़ों पर हाथ साफ करने लगा। यहां तक कि जो सामने आना चाहे सिपाही हो या राजपुत्र, वृद्व या युवक, उस भयंकर रात्रि में द्रोणपुत्र के हाथ सीधा मृत्यु के मुंह में गया। अश्वत्थामा ने दिल खोलकर कत्लेआम किया और जब सब पाण्डव राजपुत्रों को मार चुका तो चुपके से खेमे के बाहर हो गया और सीधा उस स्थान पर गया जहां दुर्योधन पड़ा था। दुर्योधन अभी तक सिसक रहा था कि अश्वत्थामा वहां पहुंच गया। प्रथम तो दुर्योधन की अवस्था देखकर वह दुःख के सागर में डूब गया। उसके पास बैठकर खून के आंसू बहाये। अन्त में रोते रोते दुर्योधन को उस बदले

का हाल सुनाया जिसे वह अभी पूरा करके आया था। दुर्योधन ने जब सुना कि पाण्डवों के पुत्र और पांचाल के सब राजपुत्र मारे गये तो उसने संतोष भरी सांस ली और 'खूब किया', 'खूब किया' कहते हुए प्राण छोड़ दिये। महाभारत के युद्ध का अन्तिम दृश्य समाप्त हुआ। थानेश्वर के मैदान में इस घर की लड़ाई ने आर्यो की सभ्यता, उनके मान, उनकी बुजुर्गी और उनकी बड़ाई को धूल में मिला दिया। युद्व के आरम्भ होने से बीस दिन के अन्दर अन्दर भूमि के बड़े बड़े योद्वा और वीर सिपाही, युद्वविद्या में निपुण अपनी वीरता और युद्व की योग्यता को प्रकट करते हुए पंच तत्व से बने अपने शरीरों को उन्हीं तत्वों में मिलाते हुए स्वर्ग चले गये। संसार को पता भी नहीं लगा कि वे कहां गए और क्या हुए।

बत्तीसवां अध्याय

युधिष्ठिर का राज्याभिषेक

युद्ध के समाप्त होते ही पाण्डवों ने कृष्ण को हस्तिनापुर के लिए विदा किया ताकि वे वहां जाकर युद्ध की पूरी स्थिति से धृतराष्ट्र को सूचित करें। यह कठिन कार्य किसी साधारण पुरूष के वश का नहीं था। कृष्ण हस्तिानापुर पहुंचे। धृतराष्ट्र और उसकी धर्मपत्नी गान्धारी दुःख में रोते कलपते थे। कृष्ण ने इधर उधर की बातें कर उनको ठंडा किया और संतोष दिलाया। अब गान्धारी ने अपने मृत पुत्रों के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की और राजा धृतराष्ट्र रानियों ने देखा, वह असह्य था। रानियां देखती थी और रोती थी। उनके प्रिय पतियों के शव रक्त में लिपटे एक दुसरे के ऊपर पड़े हुए थे। बहुतों को अभी पहचाना जा सकता था। अपने अपने सम्बन्धियों को देखकर स्त्रियां रोती थी। सारे वंश में कोई स्त्री ऐसी नहीं थी। जिसके लिए इस युद्व में सिर पीटने और चिल्लाने के लिए साम्रगी न हो। गान्धारी के बारे में यह प्रसिद्व था ि कवह बड़ी समझवाली, बुद्विमती और धर्मात्मा स्त्री थी। इसके संबंध में जो उल्लेख महाभारत में हैं उनसे इसके धैर्य, बुद्विमत्ता और गम्भीरता के पूरे प्रमाण मिलते हैं, परन्तू कौन माता है जो अपने समस्त वंश को इस तरह अपने ही नेत्रों के सामने खून में लिपटा हुआ देखकर अपने धैर्य को स्थिर रख सके। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि कुरूक्षेत्र की भूमि में अपने पुत्रों के

मृतक शरीरों को देखकर उसने कृष्ण को शाप दिया और उनको इस बरबादी और रक्तपात का जिम्मेदार ठहराया। अन्त में कृष्ण के द्वारा चाचा और भतीजों में मिलाप हो गया। भतीजों ने बड़ी नम्रता से चाचा और चाची के चरणों पर सिर रख दिये। युधिष्ठिर पर तो इतना दुख छाया हुआ था कि उसने राज्य करने से इन्कार कर दिया। उसके भाई समझाते थे परन्तू वह नहीं मानता था। यहां तक कि स्वंय धृतराष्ट्र और गान्धारी ने भी युधिष्ठिर को समझाया, परन्तू उसने अपने मन्तव्य पर दृढ़ता प्रकट की और यही कहते रहे कि भाई बंधुओं और बड़ों के रक्त में हाथ रंगकर अब राज्य करने में मुझे क्या सुख हो सकता है। मेरे लिए तो अब यही शेष है कि तप करके अपने पापों का प्रायश्चित करूं और अवशिष्ट जीवन परमात्मा की याद में अर्पण करके अपनी आत्मा को दुख व क्लेश से बचाऊं। अन्त में जब सब कह चुके और कुछ भी असर नहीं हुआ तो फिर कृष्ण ने उन्हें कुछ व्यंग्य वचन सुनाये। कभी नर्मी और कभी गर्मी से काम लेते हुए उन्होंने अंत में क्षात्र–धर्म के नाम पर युधिष्ठिर से अपील की और उसको वश में कर लिया। कृष्ण का सारा जीवन बताता है कि यह वचन चातुरी ही उनका सबसे जबरदस्त और उपयुक्त हथियार था जो अचुक था। अपने समय के दर्शन और वर्ण–धर्म के विषय में वह निपुण थे और उनकी व्यवस्था कभी खाली न जाती थी। वैराग्य के दर्शन को वह ऐसा विवेचित करते थे कि उनके सामने झूठे त्याग के विचार भागते से दिखाई देते थे। वैदिक धर्म के पृथक्–पृथक् भावों को वे समन्वित करते थे और एक श्रेणीबद्व दृश्य तैयार कर देते थे। प्राचीन शास्त्रों, ऋषियों और मुनियों की मर्यादा में वे ऐसे निपुण थे कि जहां उन्होंने प्रमाण देने आरम्भ किये, वहां प्रतिपक्षी के द्वारा उन्हें मानने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता था। अतः इस अवसर पर भी कृष्ण का उपदेश काम कर गया और युधिष्ठिर ने राजपाट छोड़कर त्यागी बनने के विचार को चित्त से दूर कर दिया; अन्त में रोते हुए सम्बन्धियों ने भाई, भतीजों, निकटवर्ती प्रियजनों के मृतक–संस्कार किये और फिर हस्तिनापुर को रवाना हुए। हस्तिानापुर में पहुंचकर युधिष्ठिर को गद्दी पर बैठाया गया। युधिष्ठिर गद्दी पर तो बैठ गया परन्तू उदास रहने लगा। फिर कृष्ण ने उसको अश्वमेघ यज्ञ करने की लिए

तैयार किया और उस यज्ञ की तैयारियों में पाण्डवों को लगाकर स्वयं मातृभूमि द्वारिका चले गये।

नोट– युधिष्ठिर के राजसिंहासन पर बैठने के बाद और कृष्ण के द्वारिका जाने से पहले महाभारत में एक और घटना का उल्लेख है, जिसकी सत्यता में संदेह है। यह कथा प्रचलित है कि जब युधिष्ठिर राजगद्दी पर बैठे तो भीष्म पितामह अभी जीवित थे। यह मालूम नहीं ि कवे कुरूक्षेत्र से हस्तिनापुर आ गये थे या वहां ही किसी स्थान पर थे, परन्तू किंवदन्ती इस प्रकार है कि युधिष्ठिर की राजगद्दी के पश्चात् कृष्ण युधिष्ठिर और सारे पाण्डवों को महाराज भीष्म के पास ले गये और प्रार्थना पर महाराज भीष्म ने युधिष्ठिर को वह उपदेश किया जो महाभारत के शान्ति और अुनशासन पर्व में लिखा है। यह उपदेश लम्बा और जटिल है। ऐसे ऐसे कठिन विषय इसमें भरे हुए हैं जिससे इस बात के मानने में संकोच होता है कि मरने के समय इस प्रकार के उपदेश महात्मा भीष्म ने दिये हों। तो भी किसी ऐसे महान् पुरूष से मृत्यु के समय उपदेश्ज्ञ लेना साधारण बात है। अतः इस घटना का सत्य होना भी असम्भव नहीं है। यदि ऐसा हुआ भी हो तो भी महाराज भीष्म के असल उपदेशों पर बाद में इतनी टिप्पणियां चढ़ी और उनमें इतनी मिलावट हुई जिससे यह निर्णय करना असम्भव है कि इसमें से कितना उपदेशा महाराज भीष्म का है और कितना पीछे से मिलाने वालों के विचारों का अंश है।

तैंतीसवां अध्याय

महाराज श्रीकृष्ण के जीवन का अन्तिम भाग

महाभारत के युद्ध के पशचात् एक बार महाराज कृष्ण फिर हस्तिनापुर आए। यह अश्वमेघ यज्ञ का अवसर था जिसकी तैयारियां महाभारत की लड़ाई के समाप्त होते ही आरम्भ हो गई थी। इस अवसर पर इनका आना एक ऐसी घटना से संबंध रखता है जिसकी आश्चर्यजनक कथा में से सत्य का निकालना कठिन है। कथा इस प्रकार है कि जिस दिन महाराज कृष्ण हस्तिनापुर आये इसी दिन रानी उत्तरा के एक लड़का उत्पन्न हुआ जो मरा हुआ था। उत्तरा महाराज विराट की लड़की और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की विवाहिता स्त्री थी। अभिमन्यु की मृत्यु के समय वह गर्भवती थी और चूंकि युद्ध के समाप्त होने पर द्रौपदी के पुत्रों को अश्वत्थामा ने बदले की आग में जलाकर मार दिया था इस कारण आगे आने वाले वंश का विस्तार उत्तरा के बच्चे पर ही था। जिस समय उत्तरा के पुत्र उत्पन्न हुआ और वह मरा हुआ दिखाई दिया, तमाम महल में रोना पीटना आरम्भ हो गया। आशाएं मिट्टी में मिल गई और चारों ओर रोन पीटने की आवाज सुनाई देने लगी। संयोग से महाराज कृष्ण भी उसी समय नगर में आये और रोने पीटने का कोलाहल सुनकर सीधे महल में गये। अभिमन्यु कृष्ण की बहिन सुभद्रा का पुत्र था अर्थात् उत्तरा कृष्ण के

अपने भांजे की रानी थी। जब स्त्रियों को पता लगा कि कृष्ण आ गये तो उन्होंने उनको घेर लिया और बच्चे को उनके सामने डालकर रोने लगी। कृष्ण ने बच्चे को देखते ही कहा कि मैं इसको जिला दूंगा। अन्ततः बच्चे की ओर देखकर वे कहने लगे कि , हे बालक, मैंने अपने जीवन में कभी झूठ नहीं बोला, न मैं कभी युद्व से भागा। बस यदि मेरे इन व्यवसायों में कुछ शक्ति है तो तू जी उठे।'' बच्चा हिलने लगा और धीरे धीरे बिलकुल अच्छा हो गया। इस बालक का नाम परीक्षित था जो बाद में पाण्डवों के राज्य का स्वामी हुआ। अश्वमेघ यज्ञ कुशलता से समाप्त हुआ और कृष्ण महाराज फिर अपने नगर को चले गये।

इस युद्व के समाप्त होने पर, वह 36 वर्ष तक निर्विघ्न होकर द्वारिका में रहे, परन्तु इस समय में उनकी जाति के यादवों में गर्व, राग, द्वेष, मदिरापान इत्यादि इतना बढ़ गया, कि यादव लोग कृष्ण के अधिकार के बारह हो गये। खुल्लमखुल्ला आपस में लड़ाइयां होने लगी। इन लड़ाई झगड़ों से समस्त यादव बरबाद हो गये। यहां तक कि यादव राजवंश में से सिर्फ चार आदमी बाकी बचे। वे थे श्रीकृष्ण, बलराम दारूक और सात्यकि।

बलराम ने इस अपार दुख से दुखी होकर समुद्र के किनारे आकर प्राण त्याग किये और श्रीकृष्ण महाराज अपने सारथी दारूक को अर्जुन के पास भेजकर स्वयं बन की ओर चले गये और तपक रने लगे। जब दारूक ने अर्जुन के समीप जाकर उससे सब समाचार कहे तो अर्जुन तुरन्त द्वारिका चले आये और कृष्ण के परपोते वज्रनाभ को यादव स्त्रियों सहित हस्तिनापुर लिवा ले गये। उसने कृष्ण के अधीन कृष्ण के अधीन राज्य भी वज्रनाभ के नाम कर दिया।

श्रीकृष्ण की मृत्यु के विषय में किंवदन्ती है कि वे जब योग समाधि में बैठे थे तो एक शिकारी का तीर इनके पैर में आ लगा। जब शिकारी पास आया तो उसे मालूम हुआ कि उसने भूल से एक मनुष्य को अपने तीर से घायल कर दिया है। इस भूल पर बहुत पश्चात्ताप करने लगा, परन्तू कृष्ण महाराज ने उसको धैर्य दिया। यहां तक तो एक प्रकार से यह संभव

घटना का वर्णन है, परन्तू आगे इसी कथा का अंत इस प्रकार होता है कि उस शिकारी बधिक के देखते देखते कृष्ण महाराज आकाश में चले गये जहां सब देवताओं ने मिलकर इनका भक्तिपूर्वक स्वागत किया और इनके आगमन से प्रसन्न होकर आमोद प्रमोद मनाया।

चौंतीसवां अध्याय

क्या कृष्ण परमेश्वर के अवतार थे?

भूमिका में हमने इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर देकर यह प्रण किया था कि कृष्ण के जीवनचरित को लिखने के पश्चात् इस विषय पर कुछ अवश्य लिखेंगे। अतः कृष्ण के जीवनचरित का वर्णन समाप्त कर अब हम अपने प्रण को पूरा करते हैं।

क्या परमेश्वर मनुष्य–शरीर धारण करता है?

परमेश्वर को मानने वाले सब आस्तिक लोग उसको सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अजन्मा, अमर, अनादि, अनन्त आदि गणों से सम्बोधित करते हैं। पुनः यह बात किस तरह ठीक हो सकती है कि उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को अपने सेवकों के रक्षण हेतू नर देह धारण करने की आवश्यकता पड़े? मनुष्य देह में आने से तो वह स्वयं बंधन में पड़ जाएगा और त बवह सर्वव्यापी नहीं रह सकता।

क्या ईश्वर का अवतार मानने वाले हमको यह बतला सकते हैं कि जिस समय श्रीकृष्ण महाराज के शरीर में परमात्मा ने अवतार लिया था उस समय सारे संसार का शासन कौन करता था? जब श्रीकृष्ण कौरवों से लड़ते थे, शिशुपाल से झगड़ते थे, जरासंध के भय से भागते फिरते थे उस समय संसार का प्रबंध किसके हाथ में था और किस तरह चल रहा था? तात्पर्य यह है कि बुद्वि इस बात को कदापि स्वीकार नहीं कर सकती कि इस सृष्टि का स्वामी और बनाने वाला परमात्मा कभी नर देह में आता है।

उसका तो यही गुण है िकवह संसार के सारे प्रपंचों से परे है। यह शरीर तो उसके बनाये हुए हैं। मनुष्य जिसके कार्य कौशल को स्वयं नहीं समझ सकता, उसके विषय में कह देता है िकवह परमेश्वर ही इस बलहीन और बंधन युक्त मनुष्य देह में आता है। ताकि वह हमें अपने उदाहरणों से बतला सके कि किस प्रकार से जीवन व्यतीत करना चाहिए। उस परमात्मा के विषय में ऐसा सोचना वास्तव में उसके ईश्वरत्व को अस्वीकार करना है। मनुष्य को ईश्वर का पद देना या ईश्वर को गिराकर मनुष्य के पद पर पहुंचा देना बड़ा भारी अपराध है। हमें खेद है कि हमारी जाति के लोग इस बुनियाद पर इतना भरोसा रखते हैं और अवतारों को माने बिना धर्म शिक्षा का होना भी विचार में नहीं ला सकते। यद्यपि यह विषय बहुत आवश्यक और मंनोरंजक भी है, इस पर वादानुवाद करने को जी चाहता है, परन्तू लेख के बढ़ जाने का विचार हमें रोकता है। दूसरे इस विषय पर वादानुवाद करने को भी जी चाहता है, परन्तू लेख के बढ़ जाने का विचार हमें रोकता है। दूसरे इस विषय पर वादानुवाद करना इस पुस्तक के उद्देश्यों से भी बाहर है। अस्तु, केवल इतना कहकर हम संतोष करते हैं कि वेदों और उपनिषदों में परमात्मा को अज (अजन्मा), अमर, अविनाशी और अकाय इत्यादि कहा है। यदि हम यह मान लें कि परमात्मा स्वयं भी देह धारण करता है तो उपर्युक्त सभी गुण व्यर्थ हो जाते हैं।

अवतारों का अभिप्राय महापुरूषों से है

निःसंदेह अवतारों से अभिप्राय यदि ऐसे महापुरूषों से है जिनकी शिक्षा–दीक्षा से , जिनकी जीवन–प्रणाली से दूसरे मनुष्य अपने जीवन को उत्तम बना सकते हैं और इस संसार रूपी समुद्र से तैरकर पार हो जाते है, तो कोई हानि नहीं। इस बात से कौन इइन्कार कर सकता है कि संसार में समय समय पर ऐसे लोगों की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है और ऐसे लोग समय समय पर जन्म भी लेते हैं जिनकी शिक्षा दीक्षा, आदेश और उपदेशों से तथा जिनके जीवन की पवित्रता से दूसरे लोग लाभ उठाते हैं। जीवन के इस तुफान भरे समुद्र में भूलों भटकों और भंवर में पड़ी हुई नावों के लिए वे मल्लाह का काम करते हैं तथा अत्यन्त निराश, हतोत्साही अशान्त और व्याकुल आत्माओं को शान्ति देते हैं। ऐसे लोग संसार की प्रत्येक जाति में उत्पन्न होते हैं और वे उन मुक्त आत्माओं की श्रेणी में से आते हैं जिनको अपनी उच्च आत्मिक शक्ति के कारण दूसरे मनुष्यों

की अपेक्षा परमात्मा की निकटता प्राप्त होती है। इनमें अन्यान्य जीवों से अधिक ईश्वरीय शक्तियां होती हैं। यह ईश्वरीय शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो फिर भी ईश्वर ईश्वर ही है और मनुष्य मनुष्य ही है। मनुष्य कभी ईश्वर नहीं हो सकता और न आत्मा परमात्मा के पद को प्राप्त हो सकती है।

हमारा विश्वास है कि यह सब पूर्णपुरूष ईश्वर के उस नियम को फैलाने, समझने और प्रचार करने के लिए जन्म लेते हैं जो ईश्वर ने सृष्टि के आादि में अपने जनों के कल्याण के लिए निज ज्ञान दिया था और जिसे संस्कृत भाषा में वेद कहते हैं। अतः यदि कृष्ण महाराज को इस सिद्वान्त से अवतार कहा जाए तो कोई हानि नहीं।

क्या कृष्ण ने स्वयं कभी परमेश्वर के अवतार होने का दावा किया?

श्रीकृष्ण के जीवन की जो घटनाएं हमने गत पृष्ठों में वर्णन की है, उनसे यही प्रमाणित होता है कि कृष्ण ने स्वयं कभी अवतार होने का दावा नहीं किया। भगवत्गीता का प्रमाण इस विषय को पूर्ण की बनाई हुई नहीं है इसलिए भगवद्गीता का प्रमाण इस विषय को पूर्ण रूप से पुष्ट भी नहीं कर सकता। परन्तू यदि आप प्रश्न करें क भगवत्गीता के बनाने वाले ने क्यों ऐसी युक्ति दी जिससे यह परिणाम निकलता कि कृष्ण महाराज, अपने आपको अवतार समझते थे? इसका उत्तर यह है कि अपने कथन को विशेष माननीय और प्रमाणिक बनाने के लिए उन्होंने ऐसा किया। भगवत्गीता का वह भाग जिसमें कृष्ण अपने को परमात्मा या परमात्मा का अवतार मानकर उपदेश करते हैं, यह प्रकट करता है कि गीता एक प्राचीन पुस्तक नहीं हैं। क्योंकि वैदिक साहित्य में जिसमें ब्राह्यण, उपनिषद् और सूत्रादि भी शामिल हैं, उसमें इस प्रकार के बहुत कम प्रमाण हैं। जिनमें उपदेश करने वाले को ऐसा (अवतार का) पद दिया गया हो। जहां तक हमने छानबीन करके मालूम किया है उपनिषदों में केवल एक ऋषि के वचनों में इस तरह का वर्णन पाया जाता है और वह भी इतना स्पष्ट और बहुतायत से नहीं, जैसा भगवत्गीता में।

भगवत्गीता का क्रम प्रकट करता है कि भिन्न भिन्न समय के पंडितों की ररचना से यह पुस्तक भरी है। हम स्वयं गीता की उर्दू टीका प्रकाशित करने की इच्छा रखते है इसलिए उस पुस्तक में इस विषय पर अधिक विस्तार से लिखेंगे। अतः यह निश्चित है कि गीता कृष्ण की बनाई हुई नहीं है। गीता के प्रमाण से कोई यह हीं कह सकता कि कृष्ण स्वयं अवतार होने का दावा करते हैं।

क्या कृष्ण के समकालीन लोग उन्हें ईश्वर का अवतार समझते थे?

युधिष्ठिर, भीष्म, अर्जुन, द्रोण, दुर्योधन, जरासंध और अन्य समकालीन लोगों का कृष्ण से व्यवहार भी यही प्रकट करता है कि उनमें से कोई भी उन्हें परमेश्वर का अवतार नहीं समझता था। ये लोग कृष्ण महाराज को केवल मनुष्य समझकर ही उनसे वैसा बर्ताव करते रहे। यदि युधिष्ठिर कृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानते होते तो उनको जरासंध के मुकाबले में भेजने से कदापि संकोच न करते। यद्यपि महाभारत का रचीयता स्पष्ट लिखता है कि महाराज युधिष्ठिर ने कृष्ण की प्रार्थना को बड़े संकोच से स्वीकार किया और जरासंध और शिशुपाल आदि कृष्ण को यदि परमेश्वर का अवतार समझते तो वे उनसे कदापि शत्रुता नहीं करते। भीष्म और द्रोण भी कभी उनके सामने लड़ने को नहीं खड़े होते। आश्चर्य तो यह है कि गीता के उपदेश को सुनने के बाद भी अर्जुन पूरे दिल से भीष्म और द्रोण के विरूद्व नहीं लड़ा। तब श्रीकृष्ण को विराट रूप धारण कर अर्जुन को उभारने की आवश्यकता पड़ी। यदि वर्तमान में उपलब्ध महाभारत को सही मान लिया जाय तो उसके अनुसार अर्जुन ने कृष्ण और भीष्म की इस सलाह को भी स्वीकार नहीं किया कि युधिष्ठिर द्रोण को हतोत्साहित करने के लिए यह प्रसिद्व करें कि अश्वत्थामा मर गया। तात्पर्य यह कि उन घटनाओं से यही प्रमाणित होता है कि कृष्ण के समकालीन सखा लोग भी उनको परमेश्वर का अवतार नहीं समझते थे।

क्या कृष्ण महाराज धर्म–सुधारक थे?

यही नहीं, हमको तो यह भी निश्चय नहीं होता कि धर्म का उपदेश या धर्म–प्रचार करना कभी श्रीकृष्ण महाराज ने अपना उद्देश्य बनाया हो। प्रथम तो उनका राजवंश में जन्म लेना ही यह बताता है कि वे धर्म के उपदेशक या धर्म प्रचारक कदापि नहीं थे यह ठीक है कि उस समय राजर्षि का पद बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था और ऐसे ऋषि आचार्य भी होते थे तथापि ब्रह्मर्षि का पद बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था और ऐसे ऋषि आचार्य भी होते थे तथापि ब्रह्मर्षि की पदवी सर्वश्रेष्ठ थी जैसा कि विश्वमित्र और वशिष्ठ के उपाख्यानों से विदित होता है। दूसरा कोई उल्लेख या पुराण कथा हमको यह नहीं बताते कि अर्जुन या युधिष्ठिर को उपदेश करने के सिवाय उन्होंने कभी सर्वसाधारण में धर्म प्रचार की चेष्टा की हो। वास्तविक बात तो यह है कि धर्म प्रचार उनका लक्ष्य ही नहीं था। वे जन्म और स्वभाव से पूरे क्षत्रिय थे इसलिए यथावश्यक उन्होंने अपने क्षत्रिय भाइयों के समझ अपने धार्मिक विचार प्रकट किये। समय समय पर युधिष्ठिर और अर्जुन के हतोत्साहित होने पर कृष्ण महाराज ने क्षात्रधर्म की व्याख्या की और इस अवस्था में धर्म के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा वह सब लोकहित साधन के लिए ही कहा। इसके अतिरिक्त अन्यत्र कभी उन्होंने धर्म विषय पर कोई ग्रन्थ लिखा और न कभी शास्त्रार्थ किया जैसा उपनिषदों में जनक महाराज के नाम से प्रसिद् व है। समयानुसार अत्यावश्यक जानकर ही किया। इसलिए हमारा विचार है कि गीता के सारे उपदेशों को उनके सिर मढ़ना उचित नहीं है। भला लड़ाई के समय में ऐसी लम्बी, युक्तिपूर्ण, सूक्ष्म दर्शन की बातें छांटने का कौन–सा अवसर था? मतलब तो केवल इतना था कि अर्जुन को लड़ाई के लिए उत्साहित किया जाये और यह मतलब उतने में ही पूरा हो जात है जितना दूसरे अध्याय में लिखा है।

बस इससे अधिक जो है वह पीछे के पंडितों की मिलावट है। गीता के 18 अध्याय के लेख को देखने से मालूम हो जाएगा कि अनेक विचारों

को प्रत्येक अध्याय में दोहराया गया है। कृष्ण के उपदेश का वह भाग जिसके द्वारा अर्जुन को लड़ने के लिए उत्साहित किया गया था, सम्भवतः इन सब अध्यायों में उन्ही के शब्दों में मौजुद है, यद्यपि हर एक अध्याय का वर्णन अलग अलग है। अस्तु, हमारी राय में भगवत्गीता में कुष्ण का उपदेश उतना ही है जितना कि सब अध्यायों में पाया जाता है। शेष उक्तियां दूसरे विद्वानों द्वारा बढ़ाई गई हैं। इस विवाद से यह भी परिणाम निकलता है कि गीता एक ही लेखक की लिखी हुई नहीं है और न उन वेदव्यास कृत हो सकती है जो वेदांत दर्शन के बचाने वाले कहे जाते हैं। यह कदापि संभव नहीं कि व्यास जैसा उसने गीता में दोहराया है। दर्शनकारों की श्रेष्ठता यही है कि उन्होंने बड़ी से बड़ी और कठिन से कठिन युक्तियों को सरल और संक्षिप्त शब्दों में वर्णबद्व कर दिया। बड़े बड़े मोतियों को बारीक धागे में पिरोकर रख दिया। परन्तू गीता का क्रम, गीता की लेखन प्रणाली और काव्य शैली इसके विरूद्व हैं कोई कोई यूरोपियन विद्वान तो इससे यह परिणाम निकालते हैं कि गीता के लेख से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि समस्त दर्शनों का अभिप्राय मनुष्य को एक ही तत्व तक पहुंचाता है। गीता से हमको यही शिक्षा मिलती है कि ज्ञान से, कर्म से, ध्यान से, भक्ति से और योग से किस तरह मुक्ति मिलती है। गीता में भिन्न भिन्न साधनों के परस्पर संबंध प्रकट कर उनका अंतिम परिणाम एक ही बतलाया गया है अर्थात् ईश्वर प्राप्ति।

मेरे इस वाद विवाद से आप यह परिणाम न निकालें कि मैं अपनी सम्मति में गीता का छिद्रान्वेषण करता हूं। मैं तो अपने को उन विद्वानों की चरण रज के तुल्य भी नहीं समझता जिन्होंने गीता बनाई। मैं। तो शायद कई जन्मों में उनकी युक्तियों के मर्म को भी नहीं समझ सकता हूं। मैं उनकी विद्वता और ज्ञान के सम्मुख प्रसन्नतापूर्वक सिर झुकाता हूं। परन्तू फिर भी यह कहने से नहीं रूक सकता कि गीता मुझे एक ही विद्वान की कृति नहीं

मलूम होती। गीता रचने वालों का मतलब दर्शनशास्त्र की रचना से नहीं था अपितू मनुष्य मात्र के नित्यप्रति के व्यवहार के लिए एक ऐसे उपदेश का संग्रह करने का था जिसमें दर्शनों का निचोड़ इस भांति आ जावे जिससे उसका समझना कठिन न हो। निदान इस निचोड़ को उन्होंने जिस उत्तमता से संग्रह किया उससे उनकी अद्वितीय बुद्विमता का ही परिचय मिलता है।

यदि ग्लेडस्टोन और टिण्डल जैसे विद्वान अपने धर्मग्रन्थ इंजील को ईश्वरीय चवन और मसीह को ईश्वर का पुत्र बल्कि स्वयं उसको ईश्वर मान सकते है तो इसमें क्या आश्चर्य है कि गीता के भिन्न भिन्न लेखकों में से किसी ने कृष्ण महाराज को अवतार की पदवी दे दी। चाहे वह इसी अभिप्राय से हो कि जो कुछ वे उपदेश करना चाहते थे उसका आदर हो और वह सर्वथा प्रामाणिक वचन माना जाये। चाहे वह वास्तव में कृष्ण महाराज को अवतार ही मानते थे अथवा नहीं। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि गीता के अतिरिक्त और किसी प्राचीन पुस्तक या आर्य ग्रन्थ में न तो साधारणतः अवतारों का वर्णन है और न कृष्ण महाराज के अवतार होने का, क्योंकि पुराणों के विषय में तो हम भूमिका में प्रमाणित कर ही चुके हैं कि वे वर्तमान समय के कुछ ही पहले के बने हुए हैं। इसलिए केवल उनके आधार पर नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन आर्य लोग परमेश्वर को अवतार मानते थे या कृष्ण महाराज को ऐसा मानते थे।

पैंतीसवां अध्याय

कृष्ण महाराज की शिक्षा

यह शब्द (कृष्णाइज्म) उन अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दुओं की गढ़ंत है जो अंग्रेजी शिक्षा पाकर भी पौराणिक हिन्दूमत के उस भाग को मानते है जिसको हिन्दुओ की बोलचाल में वैष्णव धर्म कहा जाता है। शायद सारे संस्कृत साहित्य में कोई शब्द ऐसा न मिलेगा जो ईसाई मत, मुहम्मदी मत और बौद्व धर्म की तरह श्रीकृष्ण के नाम के साथ मत की नींव डाली है जिसको वह कृष्णाइज्म कहकर पुकारते हैं। परन्तू संस्कृत साहित्य के साधारण अन्वेषण से तो यही ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने किसी मत की नींव डालने का साहस नहीं किया और न उन्होंने किसी ऐसे धर्म की शिक्षा दी जो उचित रीति से उनके ही नाम से जगत् में प्रसिद्व हो। हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद और महात्मा बुद्व इन तीनों महापुरूषों ने एक नवीन धर्म की नींव डाली और इसलिए उनके मत या धर्म उनके नाम से प्रसिद्व हो रहे हैं। यद्यपि अर्वाचीन समयय के बहुतेरे हिन्दू सम्प्रदाय भी इसी प्रकार किसी किसी महापुरूष के नाम से प्रसिद्व हैं, परन्तू प्राचीन संस्कृत साहित्य में इस तरह का कोई प्रमाण नहीं है। कृष्ण के समय के साहित्य में तो इस प्रकार का नाम निशान ही नहीं है। प्राचीन हिन्दूमत में यही तो एक बड़ी विलक्षणता है कि उसकी नींव किसी मनुष्य की शिक्षा दीक्षा के आधार पर नहीं डाली गई है।

यदि सच पूछो तो प्राचीन हिन्दू साहित्य संसार के धार्मिक तत्व की आत्मा है। यह साहित्य इस प्रकार के अमूल्य धार्मिक तत्वों से परिपूर्ण है। इसके समान उच्च विचार दुनिया के और किसी साहित्य में दिखाई नहीं देते। इस पर भी तुर्रा यह कि इन विचारों को प्रकट करने वाले महापुरूषों ने अपने नाम का कोई भी चिह्न नहीं छोड़ा जिससे आप यह निश्चित कर सकें कि यह विचार और यह शिक्षा अमुक महापुरूष की थी। हमारे महापुरूषों में से किसी ने नवीन शिक्षा देने की चेष्टा नहीं की किन्तू सबके सब अपने आपको वेदोक्त ब्रह्मविद्या का अनुयायी बतलाते रहे। किसी ने नाम मात्र के लिए भी ऐसा साहस नहीं किया कि यह विचार मेरे हैं और मैं इनको फैलाने के लिए संसार में आया हूं। मेरे पहले ये विचार किसी के ध्यान में नही आये थे या मुझे विशेष रूप से यह ज्ञान स्वयं प्राप्त हुआ। कभी किसी ने कोई नवीन मत प्रचारित करने का विचार नहीं किया। उपनिषदों और ब्राह्मणों का समस्त क्रम हमारे इस कथन का साक्षी है। उपनिषदों की अद्वितीय धार्मिक शिक्षा से यह कदापि लक्ष्य में नहीं आता ि कइस शिक्षा का आचार्य कौन था और इन अमूल्य उक्तियों के लिए वे किस महापुरूष के चिर ऋणी हैं। कहीं कहीं इतिहास इत्यादि में ऋषियों, मुनियों तथा आचार्यो के नाम आते हैं। परन्तू उनके वर्णन में क्रम से यह भी मालूम होता है कि एक ही नाम के बहुत से ऋषि हो चुके हैं– जैसे आज हमारे लिए यह निश्चत करना असंभव है कि वर्तमान मनुस्मृति कौन से मनु महाराज की रचना है? प्राचीन आर्य लोग परमेश्वर को ही आदि गुरू और सच्चा उपदेशक मानते थे इसलिए उन्होंने कभ्झी इस बात की चेष्टा नहीं की ि कवे अपने नाम से कोई धर्म प्रचलित करें। उनके लेखों से ज्ञात होता है ि कइस प्रकार के कार्य को ये अधर्म और पाप समझते थे। धर्मचर्चा, धार्मिक विचार और वादानुवाद करना तो वे उचित समझते थे, परन्तू अपने नाम से किसी नवीन धर्म का प्रचार करना या कोई नवीन शिक्षा देना उनके विचार से सर्वथा अनुचित था।

प्रचीन हिन्दुओं के सब आचार्य, ऋषि या मुनि जो कुछ शिक्षा देते

थे उसको वे अपने पूर्व पुरूषों, वेद या शास्त्रों का आदेश बतलाते थे। अपनी तरफ से कोई नवीन शिक्षा देने का साहस उन्होंने कदापि नहीं किया। बस वर्तमान समय में हमारी तरफ से यह प्रयत्न हुआ कि हम उनमें किसी एक को चुनकर उसी के नाम से किसी मत को जारी कर दें। यह सचमुच उनके महत्व को कम करना है। इस पर भी तुर्रा यह है कि हमारी यह कार्यवाही एक ऐसे वीर क्षत्रिय राजपुत्र के साथ संबंध रखे जिसने कभी भी धर्म–प्रचार की चेष्टा ही नहीं की हम पिछले परिच्छेद में कह चुके है ि कइस बात का कोई प्रमाण नहीं कि कभी कृष्ण महराज ने सर्वसाधारण को धार्मिक शिक्षा देने की चेष्टा की हो। तब कृष्ण को किसी धर्म का व्यवस्थापक मानना व्यर्थ है। हम बतलाना चाहते हैं कि भगवत्गीता की सब युक्तियों को कृष्ण महाराज की शिक्षा समझना उचित नहीं। परन्तू विचार के लिए यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो भी परिणाम तो यही निकलता है कि उन्होंने अर्जुन को युद्व में प्रवृत करने के लिए वह उपदेश किया, जो गीता में है। यदि इसी उपदेश्झ के कारण कृष्ण महाराज एक धर्म विशेष के व्यवस्थापक माने जा सकते हैं तो क्या कारण है कि भीष्म महाराज को भी वही पदवी न दी जावे जिनके उपदेश कृष्ण महाराज के उपदेशों से गूढ़ता, विद्वता, सत्यता और तात्विकता में किसी प्रकार कम नहीं है? क्या कोई हमको बतला सकता है कि भगवद्गीता में कौन सी ऐसी शिक्षा है जो उससे पहले के बने हुए उपनिषदों और ब्राह्मणों में उपस्थित नहीं हे या जो वेदों में भी पाई नहीं जाती? त बवह कौन सी शिक्षा है जिसे हम कृष्णाइज्म के नाम से प्रसिद्व करें? सिवाय इसके कि हम उन बातों को कृष्णाइज्म कहें जो श्रीमद्भागवत या ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में भरी हुई है और जिससे कृष्ण महाराज का पवित्र जीवन कलंकित किया जाता है। लेकिन श्रीमद्भागवत कि शिक्षा को कृष्णाइज्म के नाम के सम्बोधन करने से तो कृष्ण महाराज का कुछ यश नहीं होगा। हमारे विचार से तो श्रीमद्भागवत की शिक्षाओं को कृष्ण महाराज के सिर मढ़ना सर्वथा अनुचित है क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों से यह कदापि प्रमाणित

नहीं होता कि कृष्ण महाराज ने कभी ऐसी शिक्षा दी, जैसी श्रीमद्‌भागवत् में पाई जाती है।

स्पष्ट तो यह है कि हमारे विचार में कृष्ण महाराज ने कोई ऐसा मत नहीं चलाया जिसको हम उनके नाम से प्रसिद्व करें। इसलिए शब्द कृष्णाइज्म का प्रयोग ही अशुद्व है और अनुचित है। यदि कृष्णइज्म से उन्हीं उपदेशों का अभिप्राय है जो कृष्ण महाराज ने अर्जुन तथा अपने दूसरे सम्बन्धियों को यथासमय दिये और जिनमें प्राचीन वेद ग्रन्थों के निष्काम कर्म दर्शन पर जारे दिया गया है, तो कुछ हानि नहीं ह। क्योंकि कृष्ण नाम किसी विशेष धर्म का नहीं है जिसे कृष्ण महाराज ने चलाया हो। परन्तू इसमें कोई संदेह नहीं कि निष्काम धर्म का जैसा प्रभावोत्पादक उपदेश कृष्ण महाराज के वाक्यों में मिलता है वैसा और किसी ऋषि मुनि के उपदेश में नहीं मिलता। भगवद्‌गीता के पृथक् पृथक् अध्याय यद्यपि भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे हुए हैं परन्तू सबका सारांश एकमात्र निष्काम धर्म की शिक्षा ही सबसे प्रधान है, उनकी प्रत्येक बात का मर्माशय यही है। भिन्न भिन्न रीतियों से भिन्न भिन्न प्रणाली में धर्म के भिन्न भिन्न अंगो की व्याख्या करते हुए प्रायः प्रत्येक युक्ति अक्षर में निष्काम धर्म का राग अलापा गया है। न केवल उनके वचनों में, वरंच उनके कर्म और उनके व्यवहार में भी इसी शिक्षा का असर दिखाई देता है, जिससे हम यह कह सकते हैं कि झूठे त्याग और वैराग्य का खण्डन करते हुए निष्काम धर्म की प्रधानता को फैलाना और निष्काम दर्शन की व्याख्या करना यही कृष्ण महाराज के जीवन का उद्देश्य था और यही हमको उनके वचनों में जगह जगह दिखाई देता है, जिससे हम यह कह सकते हैं कि झूठे त्याग और वैराग्य का खण्डन करते हुए निष्काम धर्म की प्रधानता को फैलाना ओर निष्काम दर्शन की व्याख्या करना यही कृष्ण महाराज के जीवन का उद्देश्य था और यही हमको उनके वचनों में जगह जगह दिखाई देता है। जहां कहीं कभी उनको धार्मिक व्यवस्था देने की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने इसे सिद्वान्त बनाकर उसी के अनुसार अपने न्याय किया। इस शिक्षा का अनुकरण करना ही उन्होंने मनुष्य मात्र के जीवन का उद्देश्य ठहराया। इसी पर कार्य करने के लिए वह उन सब लोगों को प्रेरणा करते थे जिनका

किसी न किसी प्रकार से उनसे संबंध रहा। मित्रों की संगति में, संबंधी व रिश्तेदारों के व्यवहारों में, अपने सेवकों तथा भक्तजनों के प्रश्नों के उत्तर में, राजसभाओं में, यज्ञादि तथा अन्यान्य धार्मिक कृत्यों के अवसर पर तथा शत्रुओं से युद्व के समय, तात्पर्य यह कि जीवन की घटनाओं और हर बात पर उन्होंने इसी शिक्षा को अपना प्रधान लक्ष्य नियत कर लिया थां अंत में मृत्यु के समय जिसस बधिक के बाण से वे घायल हुए, उसे भी इसी निष्काम धर्म का उपदेश करते हुए स्वर्ग को पधारे।

पाठको! अब हम संक्षेप से यह बतलाना चाहते हैं कि कृष्ण महाराज की संपूर्ण शिक्षा का सारांश हमको भगवत्गीता के दूसरे अध्याय तथा महाभारत के कतिपय श्लोकों में प्राप्त होता है। कृष्ण महाराज की शिक्षा के अनुसार मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य भगवद्गीता के अध्याय दूसरे में वर्णित किया गया है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। 64

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतासोह्यशु बुद्विः पर्य्यवतिष्ठते ।। 65

अर्थ– जो मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके राग–द्वेष रहित हो इन्द्रियों के विषयों में आचरण करता है और इसलिए शुद्व अन्तःकरण रखता है वही प्रसाद अर्थात आनन्द को प्राप्त हो सकता है। ।।64।।

अर्थ–इसी आनन्द में सब सब दुखों का नाश हो जाता है अर्थात् सब दुःख दूर हो जाते हैं। अस्तु, स्थिर बुद्वि वहीं मनुष्य है जिसका मन आनन्द से परिपूर्ण है। ।।65।।

प्रश्न– स्थिर होने का क्या फल है?

उत्तर– परम पद की प्राप्ति अर्थात् मुक्ति।

कर्मजं बुद्वियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।51।।

अर्थ– मुनि लोग बुद्धि योग का प्राप्त कर्मो के फलों को यहां ही त्याग देते हैं और जन्म के बंधनों से मुक्त होकर उस पद को प्राप्त करते हैं जिसमें कोई व्याधि नहीं, अर्थात् अमृतमय मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इसलिए कृष्ण महाराज का वचन है–

योगस्थः कुरू मर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्वयसिद्वयोः समोभत्वा समत्वंयोग उच्यते ।।48।।

अर्थ –हे धनंजय (अर्जुन) ईश्वरीय इच्छा में योग करता हुआ तू राग का त्याग कर। सिद्वि और असिद्वि को एक सा जानकर तू कर्मो को कर, क्योंकि इसी समता का नाम योग हैं ।।48।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतूर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।47।।

अर्थ– न तुझे कर्मो से मतलब है न उनके फलों से । अस्तु, कर्मो के फल को अपना उद्देश्य मत बना और न अकर्म की अवस्था से दिल लगा (अर्थात् न दिल में यही ठान ले कि कर्म नहीं करना चाहिए) हे अर्जुन, सुख–दुख, हानि–लाभ और हार जीत को एक सा समझकर लड़ाई के लिए कमर बांध, क्योंकि उसी से त ू पाप से बच सकता है ।।47।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ

ततो युद्वाय युज्यस्व नैवं पापामवाम्स्यसि ।।38।।

तीसरे अध्याय के 8वें श्लोक में फिर यही बात दोहराई गई है।

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ।।8।।

अर्थ– अस्तु, तू सत्य कर्म कर क्योंकि कर्म करना अकर्म से कहीं उत्तम है। बिना कर्म किये तो शरीर–यात्रा भी नहीं हो सकती ।।8।।

श्लोक 15 में बतलाते हैं कि यह कर्म किस तरह जाना जाता है।

कर्मब्रह्योद्भवं विद्धि ब्रह्याक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्य नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।15।।

अर्थ– कर्म वेद से जाना जाता है और वेद उस अनादि परमेश्वर के बनाये हुए हैं ।।। 5।।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममोभूत्वा युद्वस्व विगतज्वरः ।।30।।

अर्थ– समस्त कर्मो को परमात्मा के अधीन करके, इसी पर अपने सब विचारों को निर्भर रखते हुए आशा और आत्माभिमान को छोड़कर तथा इस विचार के संताप से मुक्ति पाकर तू युद्व करने पर कटिबद्व कर्मो का तत्व वर्णन किया है।

पांचवे अध्याय के श्लोक में फिर यही उपदेश आता है–

ब्रह्यण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न से पापेनः पद्मपत्रभिवाम्भासा ।।10।।

अर्थ– जो सब कर्मो को ब्रह्य परायण करके बिना मोह के कर्म करता है वह पाप में नहीं फंसता, जैसे कि कमल के पत्ते पर पानी का कोई चिह्न नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यक्तवात्मशुद्वये ।।11।।

अर्थ–मोह को छोड़कर शरीर से , मन से, बुद्वि से और इन्द्रियों से भी योगी अपनी आत्म–शुद्व के लिए कर्म करते हैं। छठे अध्याय के पहले श्लोक में तो बिल्कूल साफ लिख दिया है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्य कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।11।।

अर्थ– संन्यासी और योगी वही है जो कर्मो के फल की परवाह न करता हुआ कर्म को कर्त्तव्य समझकर करता है, न कि वह जो कभी आग नहीं जलाता और कुछ कर्म नहीं करता। श्लोक 16 में फिर कहा है कि

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः। ।

नचाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।16।।

अर्थ–हे अर्जुन, योग उसके लिए नहीं है जो अधिक खाता है या जो बहुत ही कम खाता है और न उसके वास्ते जो बहुत सोता है या बहुत जागता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।17।।

अर्थ– दुख नाश कर देने वाला योग उसके लिए है जो नियम से खाता है, नियम से सोता है और जागता है, और नियम से ही सब काम करता है।

नवें अध्याय के 27वें श्लोक में फिर लिखा है।

यत्करोषियदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम। ।।27।।

अर्थ–सब कर्मो को ईश्वर परायण होकर करने का उपदेश किया है। हे कुन्तीपुत्र, जो कुछ तू करे, जो कुछ तू खाये, जो कुछ तू भेंट करे, जो कुछ तू दान करे, अथवा जो तू तप करे वह सब मुझे अर्पण कर।

सोलहवें अध्याय में फिर इसी विषय को और भी साफ कर दिया है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्विवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।23।।

अर्थ– जो पुरूष शास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार आचरण करता है उसको न सिद्वि प्राप्ति होती है, न सुख और न सच्चा मार्ग ही मिलता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।24।।

अर्थ– इसलिए उचित है कि शास्त्रों के प्रमाण से यह निश्चय किया जावे कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। शास्त्र विधि को जानकर ही इस संसार में कर्म करना चाहिए।

अध्याय 17 और 18 में कर्मकाण्ड के दर्शन का और अधिक विस्तार से वर्णन किया है। तात्पर्य यह कि इस विषय में सारी गीता का तत्व यही है जो निम्नलिखित प्रमाणों में पाया जाता है। जब हम यह विचार करते हैं कि इन सारे उपदेशों से असल मतलब भी यही था कि अर्जुन को लड़ाई के लिए कटिबद्ध किया जावे, तो हमारा यह विचार अंतिम सीमा पर पहुंच जाता है कि वास्तव में यह िवह उपदेश है जो कृष्ण महाराज ने कुरूक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को दिया। सम्भव है इसकी व्याख्या में धर्म के अन्यान्य अंगों का भी किसी प्रकार वर्णन किया गया हो, परन्तू यह विचार नहीं आ सकता कि गीता के सारे दर्शन की उस समय शिक्षा दी गई हो।

महाभारत में भी जहां कृष्ण को वार्तालाप करने का अवसर मिला है वहां भी उन्होंने इसी रीति से अपनी युक्तियों का वर्णन किया है। महाभारत का युद्व समाप्त होने के कारण पश्चात् जब युधिष्ठिर ने राजपाट छोड़कर जंगल को जाने की इच्छा की तो फिर कृष्ण महाराज उसी उपदेश से युधिष्ठिर को प्रवृति मार्ग पर लाये, यहां तक कि उन्हें अश्वमेध यज्ञ करने का उत्साहित किया। युधिष्ठिर को समझाते हुए कृष्ण ने कहा–''हे युधिष्ठिर, यद्यपि तुमने बाहरी शत्रुओं को मार लिया है, परन्तू अब समय आ गया है कि तुम उस लड़ाई के लिए तैयार हो जाओ जो प्रत्येक पुरूष को अकेले ही लड़नी पड़ती है। अर्थात् अपने मन से ही इस सपार और अथाह मन की महिमा जानने के लिए कर्म और ध्यान के हथियार वर्तने पड़ेगे, क्योंकि इस लड़ाई में लोहे के हथियार काम नहीं देंगे और न मित्र या सेवक ही कुछ सहायता कर सकेंगे। यह लड़ाई तो अकेले ही लड़नी पड़ेगी। इसमें यदि तुम उत्तीर्ण नहीं हुए तो तुम्हारा बुरा हाल होगा।''

फिर आगे कहते हैं–

''राजपाट इत्यादि बाह्य पदार्थों के त्याग से मुक्ति नहीं होगी, परन्तू उन चीजों को छोड़ना होगा जो तुमको शरीर के साथ बांधती हैं। वह पुण्य और सुख हमारे शत्रुओं के ही भाग्य में रहे, जो लोग पदार्थो का त्याग तो करते हैं परन्तू भीतरी इच्छाओं और निर्बलताओं में फंसे रहते हैं। असल मृत्यु इसी का नाम है कि मनुष्य सांसारिक पदार्थो में लिप्त हुआ मेरी और तेरी की पहचान में ही गूंथा रहे। वह पुरूष दुनिया की क्या परवाह करेगा

जो सब पृथ्वी का चक्रवर्ती राज्य रखता हुआ भी अपने मन में मोह नहीं रखता और नहीं इसके भोग से ही मोहित होता है। परन्तू वह पुरूष जो दुनिया को त्यागकर जंगल में साधु वेष बनाकर, जंगली कन्दमूल का भोजन करता हुआ भी दुनियावी पदार्थो की प्राप्ति की इच्छा रखता है और इनकी ओर दिल लगाता है, तो वह मानो मृत्यु को हर वक्त अपने मुंह में ही लिए फिरता है। इसलिए तुमको उचित नहीं है कि अपने कर्त्तव्य को पूर्ण रीति से किये बिना तुम त्याग का विचार करो। असल त्याग इसी में है कि मनुष्य का मन इसके वश में हो और अपनी सब इच्छाओं पर उसका पूर्ण अधिकार हो। ऐसा पुरूष संसार में रहता हुआ राज्य करता हुआ भी पूरा त्यागी और अपने दिल का बादशाह हैं''

वाह! क्या शब्द हैं। शब्द हैं या मोती है जिनका रूप, रंग और जिनकी चमा दमक के सामने अच्छी से अच्छी और तीव्र से तीव्र दुष्टि वाली आंख भी नहीं ठहर सकती। नहीं, नहीं, ये मोती नहीं! मोती तो मिट्टी है। उनसे न तो भूखे की भूख मिट सकती है, न प्यासे की प्यास बुझ सकती है, न शोकाकुल का शोक दूर हो सकता है और न उदास की उदासी कम हो सकती है। बहुमूल्य से बहुमूल्य मोती रखते हुए भी आदमी दुःख, दर्द और क्लेश से छुट्टी नहीं पाता। महमूद गजनवी के पास क्या मोतियों की कमी थी और रूस के जार के पास क्या मोती कम हैं? लेकिन क्या कोई कह सकता है कि मोतियों के कारण महमूद को सुख मिला या जार इन मोतियों के कारण सुखी है? सच तो यह है कि यदि तमाम दुनिया की दौलत, सोना, चांदी, हीरे, मोती, जवाहरात आदि इकट्ठे क लिए जावें तब भी इनका मूल्य इन शब्दों और इन विचारों के मूल्य से कहीं कम है। यह वह अमृत है जिसकी तलाश में मोतियों वाला सिकंदर आजम मर गया। यह वह संजीवनी बूटी है जिसको पाने के लिए दुनिया के बड़े से बड़े राजा महाराजा तड़पते हुए मर गये। यह वह अमृत है जिसको पीकर मनुष्य मरने जीने के दुःख से छूट जाता है और जिसको प्राप्त करके मोती मिट्टी दीख पड़ते हैं। यह वह नुस्खा है जिससे दुःख,

बीमारी की बीमारी, बेचैन की बेचैनी और व्याकुल, अशान्त आत्मा की व्याकुलता और अशान्ति इस तरह भाग जाती है जैसे मनुष्य की बास पाकर जंगली हिरन भाग जाता है।

यह वह ज्ञान है जो मनुष्य के लिए इस दुःख सागर संसार को शान्ति सरोवर और सुख का धाम बना देता है। जो इसको सब बंधनों से छुड़ाकर केवल एक प्रभु के चरणकमल पद को प्राप्त कराता है, जहां पहुंचकर जीवात्मा आनन्द ही आनन्द में विश्राम करता है।

पाठकों! क्या आप समझे। यह वह शिक्षा है जो हमको बताती है कि ड्यूटी (कर्त्तव्य) ड्यूटी के ही लिए करना चाहिए। यह वह शीश है जो हमको धर्म का सच्चा स्वरूप दिखाता है और समझाता है कि धर्म करने के वास्ते और कोई गरज नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त वह धर्म है या ईश्वराज्ञा है या उस परमात्मा का नियम है, जिसके नियमों में सर्वशक्तिमान् होने पर भी तमाम आत्माओं को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है।

हे आर्य संतान! क्या आप इस गम्भीर युक्ति का अनुभव कर सकते हैं? क्या दासत्व की दृढ़ जंजीरों ने, क्या पेट की चिन्ता ने, क्या प्रतिष्ठा के झूठे विचार ने क्या लक्ष्य शून्य वैराग्य और झूठे त्याग के धोखा देने वाले दर्शन ने, क्या जीविका की चिन्ता में दत्तचित हुए, सिर्फ रोटी और रूपयों को ही ईश्वर बताने वाली शिक्षा ने, क्या किंचित मात्र द्रव्य के बदले में प्राप्त की हुई विद्या ने, क्या मिथ्या विश्वास ने , आपके मन और बुद्दि को इस योग्य छोड़ा है कि आप इस परम सत्य को, सारे संसार के दर्शन के जौहर को, इस असल तत्व को समझकर अपने जीवन का ताबीज बना सके। यदि श्रीकृष्ण महाराज फिर जन्म लेवें और अपनी मीठी और सुरीली वंशी से उस आनन्दमय राग को फिर अलापें और सब आर्य संतानों को बतलावें कि वह धर्म पथ से च्युत होकर कहां से कहां जा पहुंचे हैं। यदि बूढ़ी भारत जननीी दस पुत्र इस तरह के उत्पन्न करे जो धर्म के इस मानचित्र को सामने रखकर धर्म की सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयत्न करें और इस सीढ़ी की धुन में न अमीरी की परवाह करें न गरीबी की,

न मित्र की परवाह करें न शत्रु की, न जिन्दगी की परवाह करें और न मौत की। उनका विश्वास ऐसा दृढ़ हो, उनकी श्रद्धा ऐसी पक्की हो, उनका ह्रदय ऐसा दृढ़ हो, उनकी बुद्धि ऐसी प्रबल हो कि वे जिस चीज को अपना धर्म समझ लें फिर उसी के हो रहें। न सुख दुख की परवाह करें, न आराम व कष्ट की, न दुख और सुख का ख्याल करें, न सफलता और असफलता का विचार करें।

क्या वास्तव में इसी प्रकार के मनुष्यों का अभाव नहीं है जिसके कारण सारा देश दुखी है और नित्य नई आपतियों और क्लेशों का सामना है। देश में देशभक्ति, जााति प्रेम और धर्म–प्रचार का हल्ला मचा हुआ है तो भी सारे देश में एक आदमी भी ऐसा दिखाई नहीं पड़ता जिसने देशभक्ति को, जाति प्रेम को और धर्म प्रचार को अपना मुख्य कर्त्तव्य बनाया हो। किन्तू क्या सम्भव था कि इतने हल्ला गुल्ला होने पर भी धर्म की अवस्था इस देश में एक इंच भी उन्नत न होती और इस देश का दुख निवारण न होता।

यह ठीक है कि धर्म की चर्चा तो बहुत कुछ है, वाद विवाद भी बहुत होता है, व्यख्यान और उपदेश भी अधिक होते हैं, चंदे भी खूब दिये जाते हैं, किन्तू कमी है तो यह है कि धर्म परायण जीवन नहीं है और धर्म परायण हुए बिना धर्म पास ही नहीं फटकता। धर्म तो उन लोगों के पास भी नहीं जाता जो एसे अपनी जीवन नहीं बनाते। धर्म इतनी ईर्ष्या तो अपने भक्त को अपना ही मतवाला बनाना चाहता है। उसको न खाने से रोकता है, न पीने से, न भोगने से, और न द्रव–संचय करने से, न संतान पैदा करने से और न स्त्री रखने से। वह तो यही चाहता है कि जो कुछ करो मेरे लिए करो, मेरे नाम पर करो, मेरी खातिर करो, मेरे परायण होकर करो। वह अपने भक्त से यह नहीं चाहता, कि उसका भक्त किसी से प्रेम न करे, वह देश की सेवा न करे, वह जाति की सेवा न करे, वह लोगों की सहायता न करे। वह तो कहता है चाहे जितना प्रेम करो, परन्तू

जिस चीज से प्रेम करो वह इसलिए करो जिससे तुम्हारा वह प्रेम मेरे नाम पर हो, मेरी खातिर हो और मेरे अर्पण हो।

धर्म अपने साम्राज्य में किसी को साझीदार नहीं बनाता और न अपने राज्य में किसी दूसरे को अपने बराबर का आसन देता है। तात्पर्य यह कि वह स्वयं सर्वशक्तिमान् होना चाहता है। किसी का संग उसे किसी प्रकार स्वीकार नहीं और न उसको यह हक है कि उसके भक्त को उसकी आज्ञापालन में जरा भी सोच संकोच हो। अस्तु, धार्मिक वही हो सकता है जो धर्म की आज्ञा पालने में न सिर की परवाह करे न पैर की, न तन की परवाह करे और न धन की। कृष्ण महाराज की आज्ञानुसार जो खाता है तो इसलिए कि उसकी आज्ञा है, पीता है तो इसलिए कि उसकी आज्ञा है

दान देता है तो इसलिए कि उसकी इच्छा है, यज्ञ करता है तो इसलिए कि इसमे उसकी प्रसन्नता है। ऐसा ही पुरूष धर्मपरायण हो सकता है और ऐसा पुरूष ही दूसरों को धर्मपरायण होने की शिक्षा दे सकता है। खेद है किइस देश्ज्ञ में न अब धर्म है और न कोई धर्म परायण है। इसी वास्ते यह अभागा देश और इस देश्ज्ञ के रहने वाले तरह तरह की आपत्तियों में फंसते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार धर्म का मनमाना स्वरूप बना लेता है और उस अपनी बनाई हुई तस्वीर की पूजा से मुक्ति पाने की इच्छा करता है। केवल इतना ही नहीं करता, औरों को भी उस तस्वीर की तरफ खींचता है और यही पुकारता है कि मेरे कथन पर जो संदेह करे वह काफिर है। परन्तू यदि प्राचीन समय के धर्मपरायण लोगों की साक्षी देखें तो पता चलेगा कि धर्म वेदों से मिलता है। वेद इस समय बहुत कठिन हैं क्योंकि इनके अर्थों का द्वार बंद है और इस महान् पवित्र विषय में बुद्विहीन तथा संकीर्ण ह्मदय मनुष्य का प्रवेश ही नहीं है। हम लोग तो उस महान् द्वार की कुण्डी भी नहीं खोल सकते, फिर इसमें बैठकर उसका रसास्वदन बहुत दूर है।

प्रश्न– तो क्या हमारा रोग असाध्य है और इसकी कोई औपधि ही नहीं?

उत्तर– इसके अतिरिक्त और कोई औषधि नहीं कि हम धर्म के तत्वों की खोज करें जो धर्म के पार्श्ववर्ती हैं।

प्रश्न—वह क्या हैं?

उत्तर— देखो भगवद्गीता अध्याय 16 के श्लोक 1, 2, 3, मन की शुद्वि (3)बुद्वि योग में स्थिरता (4) दान (5) दम (अपनी इन्द्रियों को वश में करना) (6) यज्ञ (धार्मिक कर्म) (7) स्वाध्याय (शास्त्रों का पठन पाठन) (8) तप (9) अहिंसा (धर्म के विरूद्व किसी को हानि न पहुंचाना) (10) सत्य (11) क्रोध का दमन (12) त्याग (13) शांति (14) वीरता (15) दृढ़ता (16) क्षमा।

हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि ईश्वर के उस दरबार में जाने के लिए धर्म के निकटवर्ती लोगों से सहायता पाने की प्रार्थना करें और उचित मार्ग से उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर उनके पूरे कृपापात्र बनें।

धर्म हेतू धर्म करना प्रत्येक जीवात्मा का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बहुत से पड़ावों को पार करना पड़ता है। इन पड़ावों में से किसी एक पड़ाव को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना ही प्रत्येक पुरूष का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को जिसने समझ लिया, वह सीधे रास्ते पर पड़ गया। फिर उसको उचित है ि कवह अपनी प्रकति का सारा जोर इस पड़ाव को पार करने में खर्च करे और किसी दूसरे विचार को अपने रास्ते में बाधक न होने दे।

यूरोप का एक राजनीतिक महापुरूष लिखता है कि निष्फलता, हतोत्साह और निराशा तथा इसी तरह कि दूसरी आपत्तियों ने एक समय मुझे इतना घबरा दिया जिससे मरे मन में यह संदेह पैदा हो गया कि मैं गलती पर हूं और मैंने सहज, स्वेच्छा व स्वबुद्वि ही से वह कार्य आरम्भ किया जिसके परिणामस्वरूप मैं सैकड़ों जीवों के रक्तपात का अपराधी बना। अस्तु, इस विचार ने मुझे ऐसा घेरा कि मै। विक्षिप्तों की भांति काम करने लगा। मेरा जीवन भार हो गया और मैंने कई बार आत्महत्या करने

की इच्छा की। रातें बेचैनी में बीतने लगी। किन्तू एक दिन प्रातःकाल सूर्य की रोशनी के साथ ही ज्ञान की प्रभा भी दृष्टिगोचर हुई। सोचते सोचते मैंने यह निश्चय किया कि मैंने जो काम आरम्भ किया है वह तो आत्मश्लाघा या स्वार्थबुद्धि का परिणाम नहीं है, परन्तू यह दशा जो मैंने अपने लिए मान रखी है, यह मेरी बुद्धि का ही परिणाम है। अन्यथा मुझे क्या अधिकार है कि मैं कर्त्तव्य–पालन में केवल हतोत्साह और निराशा के सामने आने के कारण से यह निष्कर्ष निकालूं कि मैं गलती पर हूं। अस्तु, मैंने अपनी परीक्षा लेना आरम्भ की और सोचने लगा कि मैंने मनुष्य जीवन को क्या समझा है? समस्त ज्ञान विज्ञान इसी पर निर्भर है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है?

भारत वर्ष के प्राचीन धर्म ने ध्यान को ही जीवन का उद्देश्य माना है, जिसका फल यह हुआ कि हिन्दू मात्र इतने सोये कि फिर किसी काम के योग्य ही न रहे और आर्य संतान अपने ईश्वर में लीन हो गई।

दूसरी तरफ ईसाई मत ने जिन्दगी को बोझ समझा और यह निश्चय किया कि दुनिया के सब दुःख और चिन्ताओं को संतोष तथा प्रसन्नता से सहन करना चाहिए तथा उनसे बचने का उद्योग नहीं करना चाहिए। उन्होंने इस विचार से दुनिया को दुःख मंदिर माना है। इनके नियम के अनुसार मुक्ति इसी से मिल सकती है कि हम दुनिया की सब चीजों को तुच्छ दृष्टि से देखें और उनकी कुछ परवाह न करें।

अठारहवीं सदी के प्राकृतिक दर्शन ने जीवन को सुख और आनन्द का स्थान मान लिया है। इसका परिणाम यह हुआ भिन्न भिन्न स्वरूपों में मनुष्यों में स्वार्थबुद्धि का विचार इतना बलवान् हो गया कि उसे नियमों की परवाह ही न रही। प्रत्येक पुरूष अपने ही लाभ और स्वार्थ के ध्यान में निमग्न है।

सिद्वान्त और सच्चाई के लिए बलिदान करने का विचार इतना कमजोर हो गया कि लोग थोड़ी सी तकलीफ या थोड़ी सी निष्फलता से अपने सिद्वान्तों को पैरों में कुचल डालते हैं और अपनी इच्छा को

बदलकर उस काम को छोड़ देते हैं जिसको उन्होंने किसी उद्देश्य के पालन के लिए आरम्भ किया था।

मैंने साचा कि यद्यपि मुझको जिन्दगी के इस दर्शन से नफरत है और मेरा दिल उन विचारों पर आरूढ़ नहीं है, तब भी मेरी आत्मा इन्हीं ख्यालों की शिकार हो रही है।

मैं जिन्दगी के उद्देश्य को अपनी जिन्दगी के आराम व कष्ट से, सिद्वि व असिद्वि से, लोगों की प्रीति व अप्रीति तथा योग और वियोग के विचारों से ही जांचता हूं।

दुःख है कि अपने ही कर्म से मैं अपने इस विश्वास को जवाब दे बैठा कि नर देह तो क्षणिक है और भिन्न भिन्न जीवन में इस प्रकार उन्नति करता है जैसे कोई आदमी इस विश्वास से एक बहुत ऊंचे पहाड़पर चढ़ता जावे वहां ईश्वर बैठा है और वहां पहुंचने पर उसकेक दर्शन मिलेंगे। आत्मा के भिन्न भिन्न जीवन तो वास्तव में एक ही लड़ी के दाने हैं जिनसे आत्मा शनैः–शनैः प्रकाश जीवन तो वास्तव में एक ही लड़ी के दाने हैं जिनसे आत्मा शनैः शनै प्रकाश पाता हुआ उन्नति करता है।

प्रत्येक जीवन का एक न एक लक्ष्य होता है अन्यथा जीवन का अर्थ ही क्या होगा? इसके अतिरिक्त जो लोग जीवन शब्द का दूसरा अर्थ लगाते हैं वे अपने ठीक रास्ते से भूले हुए हैं। वह जीवन ही क्या जिसका कोई लक्ष्य या उद्देश्य न हो। अतएव जिन्दगी का एक मुख्य उद्देश्य नियत करके फिर वह लिखता है कि इस प्रधान लक्ष्य के अन्तर्गत प्रत्येक जीवन की कोई वासना होती है जो इसकी विशेष अवस्था पर निर्भर होती है परन्तू जिसका स्वभाव भी उसी लक्ष्य की प्राप्ति है, जो प्रत्येक जीवात्मा का अंतिम लक्ष्य है। कुछ मनुष्यों के जीवन का अभिप्राय यह होगा कि वह अपने इर्द गिर्द के लोगों के आचार और व्यवहार को सुधारें अर्थात् अपनी जाति की शिक्षा को सुधारें।

जो लोग इनसे भी अधिक उन्नतिशील हैं। वे अपनी जाति में जातीयता के विचार को फैलाने की चेष्टा करें या धार्मिक और राजनीतिक उन्नति का बीड़ा उठावें। येन केन प्रकारेण यह बात निर्विवाद सिद्व है कि

जीवन एक मिशन है और कर्त्तव्य या उसका धर्म उसके लिए अच्छे से अच्छा नियम है। प्रत्येक पुरूष की उन्नति इस बात पर निर्भर है कि वह अपनी जिन्दगी के मिशन को समझकर उसके अनुसार ही अपना कर्त्तव्य पालन करे, क्योंकि इसी कर्त्तव्य को पालन करने या न करने पर यह बात भी निर्भर होगी िकइस जीवन के अन्त होने पर फिर उसको किस प्रकार का जीवन मिलेगा । प्रत्येक पुरूष को स्वयं यह अधिकार है कि वह अपने कर्मो द्वारा अपने भाग्य का निर्णय करे। हममें से प्रत्येक पुरूष का यही कर्त्तव्य है कि अपनी आत्मा को साफ और पवित्र बनाकर उसी को अपन ध्यान मंदिर बनावे। स्वार्थ से उसे पृथक् कर बहुत गम्भीर विचार से अपने जीवन का उद्देश्य नियत करे और अपनी अवस्था के अनुभव से यह भी निश्चय करे कि उसके देश या उसकी जाति में किस बात की विशेष आवश्यकता को वह अपनी अवस्था या योग्यता के अनुसार किस तरह और किस कदर पूरा कर सकता है। इस तरह से अपने उद्देश्य को लक्ष्य करके फिर उसको पूर्ण करने में लग जावे और फिर जन्म भर उस काम से न हटे, चाहे उसको दुःख, कामयाबी या नाकामयाबी उसको दूसरों से मदद मिले या न मिले।

यदि इस युरोपियन महापुरूष के हाथ में गीता होती तो न तो वह आर्यो के धर्म के विषय में गलत विचार बनाता और खुद उसको जीवन के सदाचार को, दर्शन को नियत करने में इतनी दिक्कत न होती जितनी कि हुई। उसकी पैदाइश में हजारों वर्ष पहले एक आर्य महापुरूष ने यही शिक्षा दी थी जिसका प्रकाश उस पर हजारों वर्ष पहले एक आर्य महापुरूष ने यही शिक्षा दी थी जिसका प्रकाश उस पर हुआ। उसके लिए तो यह प्रकाश अचानक और बेजोड़ था, परन्तू प्राचीन आर्य साहित्य में यह शिक्षा एक श्रृंखला की कड़ी मात्र थी और यही वैदिक धर्म का बुनियादी पत्थर है। यही महापुरूष अपने इस लेख में एक युरोपियन कविता का हवाला देता है, जिसका अर्थ यह है :

''फौलाद हमारी आंखों के सामने डरावनी सूरत में चमकता है और रास्ते में कदम कदम पर आपत्ति हमारी बाट देखती है, मगर तो भी लॉर्ड

कहता है, बढ़े चलो। बढ़े चलो! दम न लो। हम पूछते हैं कि हुजूर यह तो बतावें कि हम किधर जा रहे है? जवाब मिलता है कि अह लोगों मरना तो है ही (फिर डरना क्या) आगे बढ़ो और जहमत उठाओं।''

पाठकों, आपने भगवद्गीता को पढ़ा या सुना, आपने महाभारत को देखा या पढ़ा, क्या यही उपदेश महाराज कृष्ण का नहीं है कि हे अर्जुन, तुम याद रखो, शरीरधारी मनुष्य मात्र को मरना तो अवश्य ही है, फिर मरने से , जो तुम्हारा धर्म है उसका पालन करो।

सच तो यह है कि सच्चा धार्मिक वही पुरूष हो सकता है जो इस तरह अपने धर्म के लिए न मरने से डरे और न मारने से। जिसकी नजरों में इस धर्म के सामने दुनियादारी की सब बातें तुच्छ हैं।

हे मेरे स्वजीतीय भाइयों, अपने हृदय पर हाथ रखो और सोचो कि इस नियम के अनुसार हमारी जाति में कितने धर्मात्मा है और कितने ऐसे हैं जो इस उद्देश्य की पूर्ति में धर्मात्मा बनने के इच्छुक हैं?

क्या आजकल हामरी जाति का और हमाारा धर्म आराम का धर्म नही है? हममें से कितने लोग हैं जो अपने कर्त्तव्य और अपने धर्म के हेतू सब तरह के झंझट और दुःख उठाने केलिए तैयार है।? क्या सैकड़ों–हजारों, नहीं लाखों हिन्दू हर साल पैसों, रूपयों, औरतों, ओहदों इत्यादि नाचीज़ वस्तुओं के लिए अपना धर्म बेच नहीं देते? क्याहममें से कोई भी ईमानदारी से यह कह सकता है कि मैं अपने धर्म की खातिर हर तरह का दुःख उठाने को तैयार हूं? हां, अफसोस, इस देश में न धर्म रहा और धार्मिक लोग। केवल जबानी जमा खर्च रह गया–हमारा धर्म, हमारी देशभक्ति, हमारा स्वजातीय प्रेम, हमारा उपकारी जीवन खाली लिफाफे की तरह है। उसके अन्दर न उद्देश्य के नोट है न सच्ची इच्छाओं की चिट्ठियां। संभव है कोई महान् पुरूष अपने जीवनचरित से हमें धर्म का सच्चा लक्ष्य बतला दे और इस भूली हुई जाति का हाथ पकड़कर उसे सीधे रास्ते पर डाल दे।

पाद–टिप्पणी

1. लाला लाजपतराय की आत्मकथा–नवयुग, ग्रंथ माला, लाहौर से प्रकाशित,1932
2. पूरा नाम एफ. ग्राउस–मथुरा के जिलाधीश थे। हिन्दी–प्रेमी इस विदेशी विद्वान ने रामचरितमानस का हिन्दी अनुवाद किया है। – सम्पादक
3. वर्तमान उत्तर प्रदेश
4. अथर्ववेद–15/6/4
5. छान्दोग्योपनिषद् 7/12
6. स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्रणि आख्यानानीतिहासांश्य पुराणनानि खिलाति च ।।
7. चतुर्विशति साहस्त्री चैव हि ।
8. व्यास का जन्म महर्षि पराशर और निषाद पुत्री सत्सवती से हुआ।
9. गवि युधिभ्यां स्थिरः । 8/3/95
10. स्त्रियाभवन्तिकुन्तिकुरूभ्यश्च। 4/1/174
11. वासुदेवार्जुनाभयां वुन् । 4/3/98
12. वेबर, मोनियर विलियम्स तथा रमेशचन्द्र दत्त की यही धारणा थी।
13. अनेक विद्वानों ने महाभारत के अन्तःसाक्ष्य से ही द्रौपदी के बहुपतित्व का निराकरण किया है। द्रष्टवय–कौन कहता है द्रौपदी के पांच पति थे?

    – अमर स्वामी सरस्वती।

14. वेदों में ईश्वर को अज, अकाय, अव्रण आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।
15. मक्के के पास एक नदी का नाम है।

16. सुप्रसिद्व अंग्रेज इतिहासकार–कर्नल जेम्स टॉड

17. पारसी धर्मग्रन्थ जेन्दावस्ता

18. श्रीमद्‌भगवत में गोकुल व गाय का निकास 'गो' शब्द अर्थात् गाय से बताया है। मा. अ. 10 श्लोक 25 ।

19. ह्वेनसांग

20. गोस्वामी वल्लभाचार्य प्रवर्तित पुष्टि मार्ग

21. द्रष्टव्य–महाराज लाइबल केस का विवरण

22. निम्बार्क सम्प्रदाय, जिसमें कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्व दिया गया है।

23. इस विषय में पुराणों में बड़ा मतभेद है। कोई पुराण कहता है कि यह आकाशवाणी हुई कि इस लड़की की संतान के द्वारा तेरा वध होगा। अन्य लिखते हैं कि यह ध्वनि हुई की आठवीं संतान से तेरा विनाश होगा। कोई इस अगमवाणी को नारद जी के सिर मढ़ते हैं। पुराणों में जहां कहीं लड़ाई झगड़े का काम लेना होता है वहां नारद जी की सहायता ढूंढ़ी जाती है। साधारण बोलचाल में लड़ाई कराने वाले व इधर की उधर पहुंचाने वाले को 'नारद मुति' कहते हैं। न जाने नारद जी को यह प्रमाण–पत्र किस कारण मिला, क्योंकि नारद एक विख्यात शास्त्रकार तथा महर्षि का नाम है। पुराण के लेखक का शायद यह तात्पर्य है कि किसी दुराचारी ने राजा को यह कुमन्त्रणा दी थी जिसमें कोई इसका वंशज राज्याधिकार का दावा न करे। अथवा इनके राजकीय विषयों में विरोध न करे।

24. भागवत पुराण में इस विषय में एक कथा है – जिन दिनों देवकी जी गर्भ से थी तो वे एक दिन यमुना में स्नान करने गई। वहां उनका नंद की पत्नी यशोदा से वार्तालाप हुआ। आपस में जब दुःख की चर्चा चली तो यशोदा ने देवकी को वचन दिया कि मैं तेरे बालक की रक्षा करूंगी, अपना बालक बदले में तुम्हें दे दूंगी। प्रिय पाठक! यह बात भारत के इतिहास में कुछ नई नहीं हैं ऐसे दृष्टांत बहुत मिलते हैं जिनमें राजकुमारों की इस तरह की इस तरह रक्षा की गई है और दूसरी स्त्रियों ने

उनके हेतू अपने प्यारे पुत्रों का बलिदान दिया है। महाराजा उदयसिंह (चितौड़) इसी तरह बचाए गए। उनकी दासी ने कुंवर को फूल के टोकरे में रखकर दुर्ग से बाहर कर दिया और उसकी जगह पालने पर अपना लड़का लिट दिया। जब उदयसिंह के शत्रु उसको ढुंढ़ते हुए वहां आये तो उसने रोते हुए पालने की ओर इशारा कर दिया जिस पर शत्रुओं ने उसी लड़के को उदयसिंह समझकर एक ही कटार से उसका वध कर दिया।

25. नाग एक जंगली जाति का नाम था जो यमुना के आसपास रहती थी। इस पुस्तक में आगे भी कई स्थान पर इसका वर्णन आयेगा। इतिहास में भी इस जााति का वर्णन आया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस जाति का कोई सरदार वसुदेव का सहायक बन गया हैं

26. सह्रय पाठक! आप तो समझ ही गए होंगे कि इसके क्या अर्थ हैं। यह पुराण की रसीली भाषा है। इसे मैंने इसलिए उद्धृत कर दिया है ताकि आप भी इसके आनन्द में मग्न हों। यह कृष्ण का प्रथम अलौकिक कार्य है।

27. हजरत ईसा के जन्म के विषय में भी ऐसी ही कथा प्रसिद्वि है कि हिरोदेशो (जो उस समय वहां का अनुशासक था) ने इसी तरह तथा इसी भय से अनेक बालक मरवा डाले थे।

28. शाहनामा में 'फरेदू' के जन्म के विषय में भी ऐसी ही कथा लिखी है।

29. अब भी बहुत लोग अपने बच्चों को पहाड़ी दाइयों के हवाले कर आते हैं, और उनके वय प्राप्त होने पर उन्हें अपने घर ले आते हैं।

30. इस घटना के विषय में पुराणों में बड़ा मतभेद है, यथा–विष्णुपुराण में लिखा है कि 'पूतना' ने रात को सोते हुए कृष्ण को उठाकर निज स्तन से लगा लिया और दूध पिलाने लगी। चिल्लाहट सुनकर यशोदा जागी इत्यादि। भागवत की कथा यह है कि एक दिन जब यशोदा मंदिर में विराजमान थी तो पूतना एक स्त्री का सुन्दर रूप धारण करके उके पास जा बैठी और अपनी बातों से यशोदा को मोह लिया और चुपके

से कृष्ण को उसकी गोद से अपनी गोद में ले लिया और छातियों से दूध पिलाने लगी। हरिवंश पुराण में 'पूतना' एक पक्षी को कहा गया है। वर्तमान समय की मिलावट का हाल इसी से प्रकट होता है कि इस घटना के बाद यशोदा को बच्चें की रक्षा के लिए टोटके टोने कराने पड़े और मंत्र, यंत्र तथा ताबीज गले में लटकाने पड़े। कहां तो टोने टोटकों की आवश्यकता हुई। सारांश यह कि परस्पर विरोध ही इनकी असत्यता को भली भांति प्रकट कर देता है।

31. इस घटना के स्मारक रूप में महावन में एक कोठरी बनी हुई है जहां कृष्ण की मूर्ति बनाकर उस पर दो परों की छाया डाली हुई है।

32. यह वर्णन विष्णुपुराण में नहीं है। मिस्टर पॉल जिन्होंने अंग्रेजी में कृष्ण की जीवनी लिखी है, लिखते हैं कि अर्जुन एक छोटे से पेड़ का नाम है जिसको अंग्रेजी और बंगला में कोंची कहते हैं।

33. जंगलों में घूमने वाली ये जातियां यदि स्थिर होकर एक स्थान में बस जाये तो फिर वे अस्थिर जातियां न कहलायें, दूसरी जातियों के समान शहरों व देहातों की आबादियों में मिल जाएं और न इस कदर पशु रख सकें जितने कि वे इस अवस्था में किसी खर्च के बगैर रख सकती हैं। ये जातियां इसी में प्रसन्न रहती हैं कि किसी स्थान पर सर्वदा के लिए न रहें। अपनी इच्छा से समय समय पर घर बदला करती हैं। जब किसी एक जगह से उनका जी भर जाता है या वहां पर उनके पशुओं के लिए पूरी हरियाली नहीं रहती, तो वे उसी समय अपना डेरा उठा किसी दूसरी जगह झोंपड़ी डाल देती है। हरिवंशपुराण में इस स्थान व गृहों के बदलने का कारण यह लिखा है कि गोकुल में भेड़िया का आतंक इतना बढ़ गया कि गोप लोगों ने अपने जान व माल को बचाने के लिए इस जगह को छोड़ देना आवश्यक समझा।

34. इसके दो अर्थ हो सकते हैं, एक यह कि यमुना के किसी भाग में 'कालिए' नामक कोई सर्प रहता था और कृष्ण ने उसे वहां से भगा दिया। दूसरा यह कि नाग जाति को कोई सरदार 'कालिय' नामक वहां रहता था जो गोपों को कुछ हानि पहुंचाता था। कृष्ण ने इस

सरदार को लड़ाई में हराकर उस जंगल में से भगा दिया। मि. पॉल यहीं दूसरा अर्थ लगाते हैं क्योंकि पुराणों में कालिय को मनुष्य माना है और उसकी स्त्रियों की कान की बालियां तथा दूसरे आभूषणों का वर्णन किया है।

35. जैसे पुराणों में एक कहानी है कि राधा की सहेली मानवती का विवाह एक बुढ़िया के पुत्र से हुआ। कृष्ण मानवती को देखकर कामातुर हो गये और अपनी मनोकामना पूरी करने के पर तत्पर हुए, जिसके लिए अपनी ईश्वरीय प्रभुता काम में लाकर बुढ़िया के पुत्र का वेष धारण किया और उसके घर में जा घुसे और बुढ़िया को यह पट्टी पढ़ाई कि तू द्वार पर बैठ और यदि कोई भीतर आना चाहे तो न आने देना। यदि कोई तेरे बेटे का भेष बदलकर आये और कहे कि मैं तेरा बेटा हूं–तो भी तू द्वार मत खोलना और खुद मानवती के साथ सहवास का आनन्द लूटता रहा। (देखो ग्राउस साहब की पुस्तक 'मथुरा')

36. विष्णुपुराण कहता है कि नारद के कंस को बहकाया कि वे दोनों लड़के वसुदेव के हैं। इधर तो कंस को यों बहकाया कि जब तक ये दोनों लड़के जीवित हैं तब तक तेरा राज्य सुरक्षित नहीं, उधर कृष्ण और बलराम को बदला लेने के लिए तत्पर किया।

37. कर्नल टॉड ने ऐसी अनके कहानियां लिखी है। उनमें से एक मुकुन्ददास राठौर की है जिसको औरंगजेब ने जीवित शेर के पिंजरे में बंद कर दिया था। जंगल का शेर राजपूतनी के बच्चे से आंख न लड़ा सका और मुकुन्ददास सही सलामत पिंजरे से निकल आया–वह भी अकेला, बिना किसी शस्त्र के शेर पर विजयी हुआ।

38. कहते हैं कि कृष्ण, बलराम आादि सैर कर रहे थे। उन्होंने कंस के दरबार में जाने के लिए धोबी से वस्त्र मांगे और इसी पर विवाद बढ़ा।

39. भागवत से मालूम होता है कि कंस और कृष्ण का मुकाबला हुआ और कंस के जो आठ भाई थे वे भी लड़े और मारे गए।

40. हम नहीं कह सकते कि कृष्ण के समय वर्तमान काशी या बनारस को वही गौरव प्राप्त था जो उसे पौराणिक समय में मिला। प्राचीन ग्रन्थों में काशी का वर्णन आया है पर हमारे पास उसका कोई प्रमाण नहीं कि उससे तात्पर्य इसी 'शहर बनारस' का है। पुराणों के विरचित होने के समय तो काशी अपनी पूर्ण उन्नति की चोटी पर पहुंचा हुआ था। इसलिए संभव है कि उन पुराणों के रचयिता पण्डितों ने अपने

जमे हुए विचार के अनुसार यह लिख दिया हो क श्रीकृष्ण भी हो न हो विद्योपार्जन के लिए काशी ही गए। पर यथार्थ तो यह जान पड़ता है कि वह विद्या के निमित काशी नहीं गए।

41. वर्तमान उज्जैन

42. जब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से राजसूय यज्ञ करने का विचार प्रकट किया और आज्ञा मांगी, तो कृष्ण ने कहा कि हे राजन् जरासंध ने यहां के सारे राजा महाराजाओं को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया है। बहुतेरी जातियां उसके भय से देश छोड़कर भाग गई हैं। उसकी सेना में अगणित वीर योद्वागण इकट्ठे हो गए हैं। जब तक तुम उसे नहीं जीत लेते राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते। इसी प्रसंग में उन सब युद्वों का वर्णन किया जो उन्होंने और उनके वंश वालों ने जरासंध से किये थे और जिनसे व्याकुल होकर अन्त में उन्हें द्वारिका की ओर भागना पड़ा। इस बातचीत से विदित होता है कि उस समय अकेले यादव वंश में 18 हजार भाई भतीजे मौजुद थे जो सबके सब शस्त्रधारी और लड़ने भिड़ने में निपुण थे। इसी बातचीत में श्रीकृष्ण ने कहा कि द्वारिकापुरी के इर्द गिर्द पहाड़ों का घेरा है जो तीन योजन है। हर एक योजन में 21 छावनियां और 100 द्वार बनाए गये थे, जहां पर शस्त्रधारी यादव सेना रक्षा के लिए नियत थी। एक योजन चार कोस का होता है।

43. यह विदर्भ के नाम से जाना जाता है।

44. किसी– किसी पुराण में वर्णन है कि रूक्मिणी ने स्वंय कृष्ण को संदेश्ज्ञ भेजा और मंदिर जाने के बहाने अपने पिता के महल से निकल पड़ी और अपनी इच्छा से कृष्णचन्द्र के साथ चली गई।

45. स्मृति शास्त्रों में विवाह 8 प्रकार का कहा है जिनमें से एक को राक्षस विवाह कहते हैं। जब कोई क्षत्रिय किसी लड़की को उसकी

इच्छा के विरूद्व लड़कर या चोरी से भगा ले जाता था और उससे विवाह कर लेता था, तो उसे राक्षस विवाह करते थे। महाभारत में लिखा है कि भीष्म पितामह ने काशी के राजा की दो कन्याओं का इसी तरह हरण करके अपने भाइयों से उनका विवाह किया था। महाराज पृथ्वीराज का संयोगिता को ले जाकर उससे विवाह करना एक ऐतिहासिक घटना है। इसी तरह अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ विवाह किया था। पुराणों में कृष्ण की अनेक रानियों का वर्णन आता है, पर इसका पता लगाना कठिन जान पड़ता है कि वास्तव में कितनी थी। यह तो निश्चित है कि रूक्मिणी श्रीकृष्ण की पटरानी थी। विष्णुपुराण, भागवत और हरिवंश के भिन्न भिन्न वृत्तांन्तों से जान पड़ता है कि कृष्ण की आठ रानियां थी।

टिप्पणी : बंकिमचन्द्र ने एकमात्र रूक्मिणी को ही कृष्ण की पत्नी माना है।(सम्पादक)

46. अर्जुन इन दिनों 12 वर्ष के लिए घर छोड़कर बनवास में था क्योंकि पांचों भाइयों में प्रतिज्ञा हुई थी कि यदि कोई भाई किसी दुसरे उपस्थिति में द्रौपदी के कमरे में आवे तो उसको 12 वर्ष का घर त्यागना पड़ेगा। एक दिन किसी कार्यवश अर्जुन को अपने शस्त्र लेने के लिए द्रौपदी के कमरे में जाना पड़ा जबकि वहां युधिष्ठिर मौजुद थे। इसलिए उन्हें 12 वर्ष घर निकाला मिला। कुछ काल तक इधर उधर घूमकर अर्जुन द्वारिका जा पहुंचा। कृष्ण की वार्ता में इसी का संदर्भ है।

47. याद रहे कि कृष्ण का विवाह रूक्मिणी के साथ इसी तरह हुआ था। इससे जान पड़ता है कि उस समय यह कथन क्षत्रियों में निन्दनीय नहीं गिना जाता था, क्योंकि जो कोई किसी कन्या को भगा ले जाता था वह विवाह की इच्छा से ही ले जाता था। विवाह का संस्कार किए बिना उसके पास नहीं जाता था।

48. सृष्टि के रचने के कारण परमेश्वर विश्वकर्मा कहा जाता है, पर इस शब्द का अर्थ आजकल इंजीनियर से है।

49. इस प्रासाद का वर्णन करते हुए महाभारत में लिखा है कि इसका

क्षेत्रफल 5 हजार हाथ का था। इसमें सुनहरी झरने थे और सारा महल मोतियों की चमक से ऐसा जगमगाया करता था जिसके सामने सूर्य का तेज मन्द दीख पड़ता था। इसके पश्चात् एक जलाशय का वर्णन करते हैं जिसका जल ऐसा स्वच्छ था कि नीचे की भूमि दिखाई देती थी। इधर उधर संगमरमर की सीढ़ियां थी जिनमें हीरे और दूसरे बहुमूल्य पत्थर जड़े हुए थे। चारों ओर बड़े बड़े वृक्ष थे। इनसे सटा हुआ एक बनावटी जंगल बनाया गया था। इस महल की प्रतिष्ठा के यज्ञ के दिन 500 ऋषि और मुनि उपस्थित थे और देश देश के राजा महाराजा आये थे। राजाओं की इस नामावली में हम मन्द्राज (आज का तमिलनाडु), कलिंग, बंगाल, कन्नौज, अन्धक और मगध आदि देशों के राजाओं के नाम पाते हैं।

50. महाभारत की इसकी कथा इस प्रकार है कि एक दिन नारद ऋषि युधिष्ठिर के दरबार में आये और उन्हें महाराज हरिशचन्द्र की कथा सुनाकर कहा कि किस प्रकार हरिशचन्द्र ने रायसूय यज्ञ किया और उन्हें महाराज इन्द्र के दरबार में आसन मिला। यह सुनकर युधिष्ठिर को भी यह यज्ञ करने की इच्छा हुई।

51. जिन राजा महाराजाओं के नाम महाभारत में, राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने की सूची में दिये हैं, उनसे ज्ञात होता है िकइस यज्ञ में सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजा सम्मिलित थे। दक्षिण के द्रविड़ और सिंहल के राजाओं के नाम भी उस सूची में लिखे हैं। उत्तर दिशा में काश्मीर, पूर्व दिशा में बंग (बंगाल) और पश्चिम दिशा में मालव, सिन्ध इत्यादि का।

52. प्राचीन आर्यावर्त में यह रीति थी कि प्रत्येक धार्मिक कार्य के आरम्भ में कार्यकर्ता ऐसे पुरूषों को जो आदर सत्कार के अधिकारी होते थे 'अर्घ्य' दिया करते थे। यह 'अर्घ्य' चंदन, फूल, फल इत्यादि में तैयार किया जाता था। हमने 'अर्घ्य' की जगह 'भेंट' शब्द का प्रयोग किया है।

53. वेद वेदांग विज्ञानं बलं चापयधिकं तथा ।
नृणांलोके हि को ऽन्यो ऽस्ति विशिष्ट केशवाद्दते ।।

54. **सम्प्रीति भोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुन : ।**

न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ।। उद्योग 91 / 25

55. महाभारत व्यास

56. सूच्यंग्र नैव दास्यामि विना युद्वेन केशव ।।

57. राजा कालस्य कारणम्—महाभारत

58. कर्ण कुन्ती का कानीन (कन्यावस्था में उत्पन्न)

59. कर्ण का पालन एक सारथी (अधिरथ) ने किया था।

60. विनाश काले विपरीत बुद्वि

61. अंग्रेज कवि मिल्टन रचित महाकाव्य

62. यदि यह विचार लड़ाई से पहले दुर्योधन के चित्त में पैदा होता तो शायद महाभारत का विनाशकारी युद्व न हुआ होता।

63. कुरूक्षेत्र से अभिप्राय है जो थानेदार के निकट है

64. ईसा मसीह के विषय में भी ऐसी ही दन्तकथा प्रसिद्व है कि वह अपनी मौत से तीसरे दिन जिन्दा होकर फिर आसमान पर चढ़ गए। यदि बुद्विमान ईसाई ईसा मसीह के विषय की उक्त घटना पर विश्वास कर सकते हैं तो उन्हें इस पौराणिक वर्णन की घटना पर विश्वास करने में क्यों संदेह होता है?

65. वामदेव ऋषि जिसने परमात्मा के साक्षात्कार की स्थिति में ऐसे विचार व्यक्त किये थे।

66. यह पुस्तक 'दि मैसेज ऑफ भगवद्गीता' शीर्षक से 1908 में इण्यिन प्रेस, इलाहाबाद में प्रकाशित हुई।

67. इन्द्रियों के विषय में आचरण करने से तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों से वह काम लेता है जिस काम करने के लिए प्रकृति ने उनको बनाया है, जैसे आंख से देखना, कान से सुनना, नाक से सूंघना इत्यादि।

68. 1917 की साम्यवादी क्रांति के पहले रूस के शासक जार कहलाते थे। जब यह पुस्तक लिखी गई उस समय रूस पर जार का ही राज्य था।

सम्पादक